धन्य मुनिराज हमारे हैं

(खण्ड - ४)

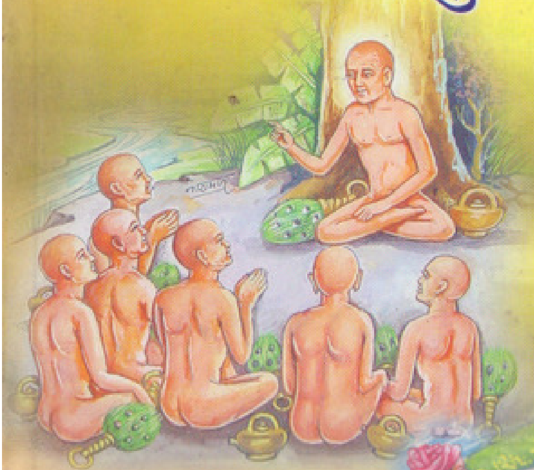

मुनि जीवन की प्रेरक कथाएँ

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

धन्य मुनिराज हमारे हैं

(मुनि जीवन की प्रेरक कथाएँ)

(खण्ड – 4)

सङ्कलन एवं सम्पादन :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

तीर्थधाम मङ्गलायतन

प्रकाशन सहयोग :

श्री कैलाशचन्द जैन

पुत्र श्री ज्ञानचन्द गुलाबचन्द जैन

ठाकुरगंज

प्रकाशक :

तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

सासनी-204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण : 1000 प्रतियाँ
तृतीय संस्करण : 1000 प्रतियाँ
(पण्डित कैलाशचन्द्र जैन जन्म शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में आयोजित मङ्गल समर्पण समारोह के अवसर पर दिनांक 10 जून 2012)

ISBN No. :

न्योछावर राशि : रुपये 15.00

Available At -

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,**
Aligarh-Agra Road, Sasni-204216, Hathras (U.P.)
Website : www.mangalayatan.com; e-mail : info@mangalayatan.com

— **Pandit Todarmal Smarak Bhawan,**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur-302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH,**
Shree Kundkund-kahan Parmarthik Trust
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30,
Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
Vile Parle (W), Mumbai - 400056
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **Shri Kundkund Kahan Jain Sahitya Kendra,**
Songarh (Guj.)

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :
देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

(तृतीय संस्करण)

'धन्य मुनिराज हमारे हैं' (खण्ड-4) कृति का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस कृति में परम पूज्य दिगम्बर मुनिराजों के अन्तर्बाह्य वैभव को दर्शानेवाली 16 कथाओं का अद्‌भुत सङ्कलन किया गया है। परम पूज्य दिगम्बर मुनिराजों के 108 जीवन प्रसङ्गों के प्रकाशन की योजना के अन्तर्गत यह प्रयास है। अति अल्प समय में तृतीय संस्करण का प्रकाशन इस कृति की लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यह तो सर्व विदित है कि **तीर्थधाम मङ्गलायतन** अपने उद्‌भव काल से ही परम पूज्य तीर्थङ्कर भगवन्तों, वीतरागी सन्तों एवं पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा प्रचारित जिन-सिद्धान्तों को देश-विदेश में प्रचार-प्रसार करने हेतु प्रयासरत है।

वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत **मङ्गलायतन** पत्रिका का मासिक प्रकाशन उल्लेखनीय है। यह पत्रिका विविध विशेषाङ्कों के रूप में प्रति माह प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका के धन्य-मुनिदशा के 42 विशेषाङ्क प्रकाशित हो चुके हैं, जो अभी तक के इतिहास में एक अपूर्व उपलब्धि है। धन्य-मुनिदशा विशेषाङ्कों की पूर्णता के बाद वर्तमान में इस पत्रिका के 'हमारे सन्त : हमारे गौरव' विशेषाङ्क प्रकाशित किये जा रहे हैं। जिसमें भगवान महावीर के पश्चात् हुए वीतरागी भावलिङ्गी सन्तों का परिचय एवं उनके द्वारा प्रदत्त साहित्यिक अवदान को उभार कर भावी पीढ़ी को उनका परिचय प्रदान किया जा रहा है।

सम्पूर्ण विश्व को दिगम्बरत्व के गौरव से परिचय कराने के उद्देश्य से **तीर्थधाम मङ्गलायतन** परिसर में 'धन्य मुनिदशा' प्रकल्प का निर्माण किया गया है, जिसमें स्वरूपानन्दी वीतरागी मुनिराजों के अन्तर्बाह्य वैभव की

ध्वनि एवं प्रकाश के माध्यम से जीवन्त प्रस्तुति प्रदान की गयी है। आज हजारों लोग प्रतिदिन यहाँ पधारकर विश्व की इस अद्वितीय रचना का दर्शन कर दिगम्बरत्व के गौरव से परिचित होते हैं, साथ ही इस भ्रम का प्रक्षालन भी करते हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री मुनिविरोधी है। **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के प्राङ्गण में साधर्मीजनों के ये स्वर मुखरित होते हुए आप देख / सुन सकते हैं कि पूज्य श्री कानजीस्वामी तो सच्चे मुनिभक्त हैं।

तीर्थधाम मङ्गलायतन ने मुनिदशा से सम्बन्धित अनेक प्रकार के साहित्य का प्रकाशन किया है एवं भविष्य में प्रकाशन करने की योजना है। जिसके अन्तर्गत धन्य-मुनिदशा खण्ड-1 तथा धन्य मुनिराज हमारे हैं (कथा संग्रह) के चार भाग प्रकाशित किये जा चुके हैं। मुनिदशा पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों के सङ्कलन धन्य-मुनिदशा, खण्ड- 2 व 3 शीघ्र ही प्रकाशन की तैयारी में हैं। गुरुदेवश्री के लगभग सौ प्रवचन ग्रन्थों में से चयनित 1008 वचनामृतों का सङ्कलन 'ते गुरु मेरे उर वसौ' का भी प्रकाशन किया जा रहा है। इनके अतिरिक्त मुनिराज के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व को दर्शानेवाले 1008 प्रश्नोत्तरों का प्रकाशन भी अति शीघ्र सम्भव होगा। जिसमें 88 सत् शास्त्रों के उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।

मुनिराजों की अन्तरपरिणति, परीषहों की विषय परिस्थितियों में सुमेरुवत् अचल परिणति एवं मुनिराज की सङ्गति से जीवों को हुए आत्मलाभ की गौरव गाथाएँ, सम्पूर्ण प्रथमानुयोग में यत्र-तत्र उपलब्ध है, उनमें से कतिपय प्रसङ्ग विविध कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत ग्रन्थ में संग्रहीत कर प्रकाशित किये जा रहे हैं। इन कथा ग्रन्थ में जिन-जिन लेखकों द्वारा लिखित कहानियों का प्रकाशन किया जा रहा है, हम उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का सङ्कलन एवं सम्पादन कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन (बिजौलियाँवाले) **तीर्थधाम मङ्गलायतन** द्वारा किया गया है।

प्रकाशन सहयोग के रूप में श्री कैलाशचन्द जैन पुत्र ज्ञानचन्द गुलाबचन्द जैन, ठाकुरगंज द्वारा प्राप्त सहयोग के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

सभी साधर्मीजन इन कथाओं के माध्यम से मुनिदशा की भावना प्रगट करेंगे - इसी आशा एवं विश्वास के साथ।

पवन जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन

सम्पादकीय

परम पूज्य वीतरागी दिगम्बर जैन सन्तों की गौरव गाथाओं को दर्शाता प्रस्तुत ग्रन्थ '**धन्य मुनिराज हमारे हैं**' (खण्ड-4) मुनिभक्त साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

चलते-फिरते सिद्धरूप मुनिराज की अन्तरपरिणति तीन कषाय चौकड़ी के अभावस्वरूप वीतरागता से ओत-प्रोत होती है, तो उनकी बाह्य मुद्रा अत्यन्त निर्विकार नग्न दिगम्बर होती है। मुनिराज के दर्शनों का सौभाग्य श्रावक जीवन का धन्य पल होता है और यदि उनको आहारदान का प्रसङ्ग अपने आँगन में बन जाए तो कहना ही क्या! इस प्रसङ्ग का भाववाही वर्णन करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं -

'सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक सन्त मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उसका रोम-रोम भक्ति से उल्लसित हो जाता है... अहो! इन मोक्ष के साक्षात् साधक सन्त भगवान की भक्ति के लिये मैं क्या-क्या करूँ? किस-किस प्रकार इनकी सेवा करूँ! किस प्रकार इन्हें अर्पणता दूँ! - इस प्रकार धर्मात्मा का हृदय भक्ति से उल्लसित हो जाता है और जब ऐसे साधक मुनि अपने आँगन में आहार के लिये पधारें तथा आहारदान का प्रसङ्ग बने, वहाँ तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आया... इस प्रकार अपारभक्तिपूर्वक मुनि को आहार देते हैं।'

पूज्य गुरुदेवश्री के इसी प्रकार के मुनिभक्तिपूर्ण 1008 वचनामृतों का सङ्कलन भी तैयार किया गया है, जो शीघ्र प्रकाशित होगा।

मुनि भगवन्तों का सम्पूर्ण जीवन आत्मसाधनामय होता है। उपसर्ग-परीषह उनके पवित्र आत्मध्यान की परीक्षा का काल होता है। ऐसी विषम परिस्थिति में मुनिराज अपने ज्ञायकस्वभाव का उग्र अवलम्बन ग्रहण करते हुए प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करते हैं।

जिनागम का प्रथमानुयोग ऐसे ही स्वरूप साधकों की मङ्गल गौरव गाथाएँ प्रस्तुत कर हमें भी निरन्तर आत्म-साधना की प्रेरणाएँ प्रदान करता है।

अहो! मुनिराजों के जीवन के ये पवित्र संस्मरण हमारे चित्त में उन साधकों के प्रति भक्तिभाव तो जागृत करते ही हैं, हमें उस दशा की पावन भावना भी जागृत करते हैं।

अपने में उसी वैराग्य भावना को परिपुष्ट करने के पावन उद्देश्य से मुनि जीवन की 108 कथाओं का सङ्कलन कर 'धन्य मुनिराज हमारे हैं' कथा शृङ्खला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का प्रयास है। प्रस्तुत खण्ड में 16 कथाएँ प्रकाशित की गयी हैं। **तीर्थधाम मङ्गलायतन** द्वारा प्रतिमाह प्रकाशित होनेवाली **मङ्गलायतन** पत्रिका के माध्यम से हमने धन्य-मुनिदशा के 42 विशेषाङ्क प्रकाशित कर, अपनी विनयाञ्जलि समर्पित की है, जो अपने आप में एक ऐतिहासिक कार्य है। वर्तमान में इस पत्रिका के माध्यम से भगवान महावीर के पश्चात् हुए विभिन्न जैनाचार्यों से सम्बन्धित सामग्री पाठकों तक पहुँच रही है।

इस कार्य के मूल प्रेरणास्रोत तो पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं उनके अन्तरङ्ग में व्याप्त मुनिभक्ति ही है। साथ ही पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्यभक्त गुरुवर्य पण्डित कैलाशचन्द जैन अलीगढ़ की मङ्गल प्रेरणाएँ भी इस कार्य के प्रति निमित्तभूत हुई है। अत: मैं अपने परम उपकारी इन गुरुओं के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस कथा संग्रह में जिन कथाकारों द्वारा लिखित कहानियों का सङ्कलन किया गया है, उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। यद्यपि कथाएँ उनकी मूल भाषा में रखने का प्रयास किया गया है, तथापि भाषा को प्रवाहमयता के उद्देश्य से उसमें आवश्यक संशोधन भी किये हैं। कुछ कथाओं के शीर्षक

बदलकर उन्हें नया नाम भी दिया गया है। कहीं-कहीं प्रासङ्गिक तात्त्विक उद्‌बोधन भी डाला गया है। इस मङ्गल कार्य में प्रवृत्त होने से मुझे पूज्य वीतरागी सन्तों का अन्तरङ्ग जानने का अवसर तो प्राप्त हुआ ही है, साथ ही उदयजन्य विषम परिस्थितियों में विचलित न होने का साहस भी उपलब्ध हुआ है।

इस कार्य का सुअवसर प्रदान करने के लिए अग्रज श्री पवन जैन, पण्डित अशोक लुहाड़िया इत्यादि के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अन्त में यही भावना भाता हूँ कि धन्य मुनिदशा का धन्य क्षण मेरे जीवन में भी आये।

देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन

अनुक्रमणिका

1. देखो, संसार की विचित्रता!	1
2. पतित से पावन	12
3. अनुबद्ध केवली सुधर्मस्वामी	27
4. देखो, परिणामों की विचित्रता!	34
5. छोटी-सी प्रतिज्ञा का महान फल	37
6. निधान मिल गया	42
7. राजा दण्डक की कथा	51
8. मोह से मुक्ति की ओर	59
9. श्री सुव्रत मुनिराज	69
10. समभावी संजयन्त मुनि	74
11. उपसर्गजयी कार्तिकेय मुनि	94
12. भाव-परिवर्तन	99
13. विरक्त चक्रवर्ती श्रीपाल	112
14. विवाह मण्डप में वैराग्य	120
15. चिलातपुत्र	128
16. अमर बलिदान	133

1

बलभद्र, बासुदेव और उनके मोक्षगामी तीन युगल बन्धुओं की वैराग्य प्रेरक कथा

देखो, संसार की विचित्रता!

वासुदेव, भगवान नेमिनाथ के पिता राजा समुद्रविजय के छोटे भाई थे। एक बार उन्होंने अपनी सहधर्मिणी देवकी के साथ चारणऋद्धिधारी अवधिज्ञानी मुनिराज श्रीअतिमुक्तस्वामी को भक्तिभावपूर्वक वन्दन करके / नमस्कार करके, देवकी के होनेवाले पुत्रों की कंस के द्वारा मृत्यु सम्बन्धी शङ्का का समाधान करने के लिए पूछा। उसके उत्तर में मुनिराज ने कहा – हे भव्य! देवकी के होनेवाले पुत्रों की मृत्यु कंस के द्वारा नहीं होगी। मैं इस सम्बन्ध में जो सत्य है, वह कहता हूँ, उसे तुम ध्यान देकर सुनो!

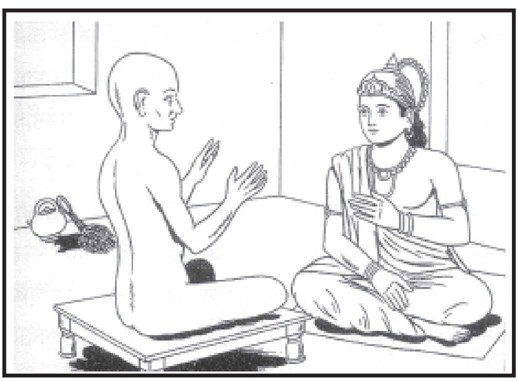

देवकी का सातवाँ पुत्र नौवें नारायण के रूप में जन्म लेगा, और वह तीन खण्ड के राज्य

का स्वामी होगा। उससे बड़े छह भाई तद्भव मोक्षगामी होंगे। उनकी मृत्यु कंस के द्वारा नहीं होगी; इसलिए तुम चिन्ता मत करो। सात पुत्र तो देवकी के होंगे और एक पुत्र रोहिणी के होगा, जो कि बलभद्र होगा। मैं इन सबके पूर्व भव तुम्हें कहता हूँ, वह तुम सुनो। उनके पूर्व भव का वृत्तान्त तुम्हारे मन को आनन्दकारी होने के साथ-साथ वैराग्य एवं आत्महित की प्रेरणा देनेवाला भी है।

❖ ❖ ❖

बहुत समय पूर्व इस मथुरा नगरी में राजा सूरसेन राज्य करते थे। उनके राज्य में एक भानु नाम का सेठ बारह करोड़ द्रव्य का स्वामी था। उसकी पत्नी का नाम यमुना था। उसके सुभानु आदि सात पुत्र थे। भानु सेठ को संसार से वैराग्य होने पर वह अभयनन्दि मुनिराज के समीप दीक्षा लेकर मुनि हो गये और सेठानी यमुना भी जिनदत्ता आर्यिका के समीप आर्यिका हो गयी।

भानु सेठ के दीक्षित होने के पश्चात् उसके सुभानु आदि सातों पुत्र, जुआ और वैश्यागमन आदि के व्यसनी हो जाने से पिता द्वारा प्रदत्त समस्त द्रव्य नष्ट हो गया। द्रव्य नष्ट हो जाने से सातों भाई चोरी करने के लिए उज्जैनी नगर में गये। सुभानु का सबसे छोटा भाई सूरसेन था। उसे महाकाल नामक श्मशान में कुल, सन्तान की रक्षा के लिए रखकर सुभानु आदि छह भाई चोरी करने के लिए नगरी में गये और छोटे भाई सूरसेन से कह गये कि यदि चोरी करते हुए हम मर जाएँ तो तू यहाँ से भाग जाना और यदि हम सकुशल वापस आ गये तो चोरी करने से जो द्रव्य आयेगा, उसमें से तुझे बराबर का हिस्सा देंगे। ऐसा कहकर छहों भाई चोरी करने

चले गये और सातवाँ छोटा भाई सूरसेन श्मशान में बैठ गया। उसी समय संसार की विचित्रता का दर्शक एक प्रसङ्ग बना –

उज्जैनी नगरी का राजा वृषभध्वज था। उसके राज्य में दृष्टिमुष्टि नाम का महायोद्धा था, उसकी पत्नी का नाम वप्रश्री था। उनेके वज्रमुष्टि नाम का पुत्र था, जिसका विवाह राजा विमलचन्द्र की मङ्गी नाम की पुत्री के साथ हुआ था। मङ्गी अपने पति वज्रमुष्टि को बहुत प्रिय थी। मङ्गी अपनी सास की सेवा में प्रमादी थी, इस कारण उसकी सास का चित्त कलुषित रहता था; अतः सास ऐसा उपाय सोचती थी कि किसी प्रकार मेरा पुत्र अपनी पत्नी मङ्गी से विरक्त हो जाए अथवा मङ्गी मर जाए।

एक बार बसन्तऋतु के उत्सव में वज्रमुष्टि वन में क्रीड़ा करने गया, तब उपयुक्त अवसर जानकर मङ्गी की सास ने घड़े में सर्प रखकर कपटपूर्वक मङ्गी से कहा – 'हे बहू! इस घड़े में मोती की माला है, तू उसे निकालकर पहिन।'

मङ्गी ने मोती की माला लेने के लिए ज्यों ही घड़े में हाथ डाला तो तुरन्त उसे सर्प ने डस लिया, जिससे वह मूर्च्छित हो गयी। उसकी सास ने सेवकों को आज्ञा दी कि मङ्गी को श्माशान में डाल आओ। सेवक आज्ञानुसार मङ्गी को महाकाल श्मशान में डाल आया। तत्पश्चात् रात्रि में मङ्गी का पति वज्रमुष्टि घर आया और अपनी प्राणप्रिया मङ्गी को सर्प डसने आदि के समाचार जानकर अत्यन्त दुःखी हुआ। वह तुरन्त एक हाथ में नङ्गी तलवार और एक हाथ में दीपक लेकर महाकाल श्मशान में मङ्गी को खोजने चल पड़ा।

महाकाल श्मशान में उस रात्रि वरधर्म नाम के मुनिराज प्रतिमायोग धारण करके विराजमान थे, उन्हें देखकर वज्रमुष्टि अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने मुनिराज की तीन प्रदक्षिणा की तथा नमस्कार करके कहने लगा – 'हे पूज्यपाद! यदि मेरी प्रिया मुझे मिल जाए तो मैं सहस्रदल कमल पुष्प से आपकी पूजा करूँगा।'

अरे रे! जगत् के अज्ञानीजनों के अज्ञान को धिक्कार है!! वे मुक्तिप्रदाता वीतरागी सन्त से भी विषय-कषायों की प्राप्ति की ही अपेक्षा रखते हैं।

वज्रमुष्टि को खोजते-खोजते अपनी पत्नी मिल गयी; अतः वह उसे मूर्च्छित अवस्था में उठाकर मुनिराज के चरणों के समीप ले गया। मुनिराज, ऋद्धिधारक थे, उनके प्रभाव से मङ्गी निर्विष हो गयी। वज्रमुष्टि अपनी स्त्री को निर्विष जानकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे मुनिराज के समीप बैठाकर वह सुदर्शन नामक सरोवर में से सहस्रदल कमल लेने के लिए चला गया; साथ ही मङ्गी से कह गया कि जहाँ तक मैं नही आऊँ, वहाँ तक तुम मुनिराज के समीप ही बैठना।

मङ्गी, मुनिराज के समीप बैठी है और उसका पति सहस्रदस कमल लेने के लिए सरोवर की तरफ गया है। इस श्मशान में रहा हुआ चोर सूरसेन, जो कि चोरों का सातवाँ भाई है वह, वज्रमुष्टि का मङ्गी पर अधिक स्नेह देखकर मन में विचारने लगा कि पति को तो पत्नी के प्रति प्रीति में कमी नहीं है, परन्तु पत्नी को पति के प्रति कैसी प्रीति है, यह तो जरा देखूँ – ऐसा विचारकर उसकी परीक्षा लेने के लिए उसने अपना रूप उस स्त्री का बताया।

महारूपवान सूरसेन चोर मीठे वचनों से उसके साथ बातचीन करने लगा।

मङ्गी, सूरसेन चोर का रूप देखकर और मीठे वचन सुनकर कामाग्नि से विह्वल होकर कहने लगी – 'हे देव! कृपा करके मुझे अङ्गीकार करो।'

तब सूरसेन चोर ने कहा 'हे भद्रे! तेरा पति महा बलवान योद्धा है, इस कारण मैं उससे डरता हूँ।'

तब वह स्त्री बोली कि 'हे नाथ! तुम भय मत करो। मैं अपने पति को तलवार से मार दूँगी।'

तब सूरसेन ने कहा – 'यदि तुम अपने पति को मार दोगी तो मैं तुम्हें अङ्गीकार करूँगा।' – ऐसा कहकर वह चोर उस स्त्री का कार्य देखने के लिए छिपकर बैठ गया।

मङ्गी का पति वज्रमुष्टि, सरोवर में से कमल लाकर मुनिराज को चढ़ाकर नमस्कार कर रहा था, तभी मङ्गी पीछे से अपने पति को तलवार से मारने जा रही थी, उस समय तुरन्त ही चोर सूरसेन ने उस स्त्री का हाथ पकड़कर वज्रमुष्टि को बचा लिया और स्वयं छिप गया। इस प्रसङ्ग को देखकर सूरसेन का चित्त संसार से विरक्त हो गया। मङ्गी अपना दोष छिपाने के लिए मूर्च्छा खाकर गिर पड़ी। यह देखकर वज्रमुष्टि ने कहा – 'हे प्रिये! तू डर कैसे गयी ? यहाँ भय का कोई कारण नहीं है। ऐसा कहकर, धैर्य बँधाकर, मुनिराज को वन्दन करके, पत्नी को साथ लेकर वह अपने घर चला गया।

❖ ❖ ❖

सूरसेन चोर के जो छह भाई चोरी करने नगर में गये थे, वे

चोरी करके बहुत–सा द्रव्य लाये और उसके सात भाग करके अपने छोटे भाई सूरसेन से कहा – 'हे भाई! तू अपना भाग ले ले।'

सूरसेन ने अपना भाग नहीं लिया और कहा – 'संसारी जीव, स्त्री–पुत्रादिक के लिए धन उपार्जित करता है, परन्तु स्त्री की चेष्टा तो मैंने अभी–अभी प्रत्यक्ष देखी है।' बड़े भाई सुभानु आदि ने पूछा कि 'हे बन्धु! तूने क्या देखा है?' उत्तर में सूरसेन ने वज्रमुष्टि और मङ्गी का सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। संसार की स्वार्थवृत्ति का जघन्यतमरूप सुनकर सातों भाई संसार में विरक्त हो गये। आत्मकल्याण की भावना से वे सभी वरधर्म मुनि के समीप जिनदीक्षा अङ्गीकार करके मुनि हो गये।

कितने ही दिनों के पश्चात् वे सातों मुनि, गुरु के साथ उज्जैनी आये। वज्रमुष्टि ने उन्हें देखा और उनको कम उम्र में वैराग्य होने का कारणभूत अपनी स्त्री का वृतान्त सुनकर वह भी संसार से विरक्त होकर मुनि हो गया। सूरसेन आदि सातों भाईयों की स्त्रियाँ भी अपनी पति को संसार से विरक्त जानकर जिनदत्ता आर्यिका के समीप दीक्षित होकर आर्यिका हो गयी थीं, वे भी एक बार उज्जैन नगरी में आईं। मङ्गी भी उनके वैराग्य का वृत्तान्त जानकर संसार का निन्द्य समझकर अपने दुष्चरित्र की निन्दा करती हुई, गृहत्याग करके आर्यिका हो गयी। ये सभी महातप करके प्रथम स्वर्ग में एक सागर की आयुवाले देव हुए।

❖ ❖ ❖

धातकीखण्ड के भरतक्षेत्र में नित्यलोक नामक नगर में चित्रचूल राजा की मनोहारी रानी के सातों भाईयों में से बड़ा भाई सुभानु का जीव प्रथम स्वर्ग में आकर चित्राङ्गद नामक पुत्र हुआ

और छहों भाई भी उन्हीं माता-पिता के यहाँ तीन युगल पुत्र हुए। इस प्रकार यहाँ भी सातों भाईयों ने भाईरूप से ही जन्म लिया। सातों भाई महारूपवान एवं समस्त विद्याओं के पारगामी, मनुष्यों के शिरोमणि हुए।

❖ ❖ ❖

मेघपुर नामक नगर का राजा धनञ्जय था, उसकी धनश्री नाम की रूपवान पुत्री पृथ्वी में प्रसिद्ध थी। उसके विवाह हेतु आयोजित स्वयंवर में समस्त विद्याधरकुमार आये थे। कन्या धनश्री ने अपने मामा के पुत्र हरिवाहन के गले में वरमाला पहिनाई, इसे देखकर समस्त राजा क्रोधयुक्त हो गये। वे कहने लगे – 'यदि धनश्री को हरिवाहन को ही वरमाला पहनानी थी तो हम सबको किसलिए बुलाया गया ?' इस प्रकार क्रोध से कन्या के लिए वे सभी राजा परस्पर लड़ने लगे और उस युद्ध में अनेक सामन्तों का नाश हुआ।

इस प्रसङ्ग को देखकर राजा चित्रचूल के सातों राजकुमारों ने विषयों को पाप का कारण जानकर, विरक्त होकर भूतानन्द केवली के समीप मुनिव्रत धारण किया और सातों भाई आराधना करके चौथे स्वर्ग में सात सागर की आयुवाले देव हुए। स्वर्ग का सुख भोगकर, वहाँ से चयकर चित्राङ्गद नाम का बड़ा भाई भरतक्षेत्र के हस्तिनापुर में सेठ श्रोतवाहन की पत्नी बन्धुमति के शंख नाम का पुत्र हुआ और छोटे छह भाईयों ने भी उसी नगरी के राजा गङ्गदेव की रानी नन्दियशा के तीन युगल पुत्रों के रूप में जन्म लिया।

रानी नन्दियशा के चौथे गर्भ धारण में सातवाँ पुत्र निर्नामिक

आया, वह आगामी जन्म में होनहार कृष्ण है। वह माता नन्दियशा का पूर्व भव का विरोधी था; अतः वह गर्भ में आया तभी से राजा को रानी अरुचिकर हो गयी; इस कारण (उसने) पुत्र को जन्मते ही छोड़ दिया। उस पुत्र का पालन रेवती नामक धाय ने किया। जब वह बड़ा हुआ, तब श्रेष्ठीपुत्र शंख के और इस निर्नामिक के स्नेह बढ़ गया, क्योंकि शंख तो होनहार बलभद्र और निर्नामिक होनहार कृष्ण नारायण है।

एक दिन निर्नामिक, शंख के साथ मनोहर नामक उद्यान में गया। वहाँ निर्नामिक के छहों भाई भोजन कर रहे थे, उन्हें शंख ने कहा – 'यह तुम्हारा छोटा भाई है, इसे क्यों नहीं बुलाते?' शंख के यह वचन सुनकर छहों बड़े भाईयों ने निर्नामिक को बुलाया और प्रेमपूर्वक साथ में भोजन कराने लगे। माता नन्दियशा ने यह सब देख लिया और क्रोध में आकर उसने निर्नामिक को लात मारकर उठा दिया, इससे निर्नामिक को बहुत दुःख हुआ और शंख भी खेदखिन्न हुआ। वह निर्नामिक को लेकर द्रुमसेन नामक अवधिज्ञानी मुनिराज के पास गया और उनसे निर्नामिक के पूर्व भव के सम्बन्ध में पूछा।

❖ ❖ ❖

मुनिराज ने निर्नामिक के पूर्व भव के विषय में बताते हुए कहा – गिरिनार नाम के नगर का राजा चित्ररथ था। वह कुबुद्धियों के सङ्ग माँसाहारी हो गया। उसके अमृत-रसायन नाम का रसोइया था, वह माँस की रसोई बनाने की विधि में प्रवीण था; इस कारण राजा ने उस पर प्रसन्न होकर दस गाँव भेंट कर दिये थे।

एक दिन राजा ने सुधर्म नामक मुनि से धर्म श्रवण करके, माँस के दोष जानकर, अपनी निन्दा करके अपने मेघरथ नाम के पुत्र को राज्य देकर तीन सौ राजाओं के साथ मुनि हो गया। मेघरथ, श्रावकव्रतों का धारक था। उसने 'रसोइया ने मेरे पिता को अभक्ष्य भोजन कराया है' – ऐसा जानकर, क्रोधित होकर दिये हुए दस गाँवों में से नौ गाँव वापस छीन लिये। इससे रसोईया ने मुनि के प्रति वैरभाव कर लिया कि मुनि ने मेरी आजीविका हर ली है।

इसलिए उसने बनावटी पक्का श्रावक बनकर मुनि को विषमय कड़बी तुम्बी का आहार दिया। फलतः मुनि, समाधिमरण करके अपराजित विमान में बत्तीस सारग की स्थितिवाले अहमिन्द्र हुए और रसोईया मरकर तीसरे नरक गया। वहाँ तीन सागर तक नरक के तीव्र दुःख भोगकर, वहाँ से निकल कर तिर्यञ्चगतिरूप वन में बहुत भ्रमण करके, मलय नाम के देश के पलाश गाँव में यक्षदत्त के यहाँ यक्षलिक नाम का पुत्र हुआ।

एक बार यक्षलिक, माल की गाड़ी भरकर अपने छोटे भाई के साथ जा रहा था। रास्ते में एक सर्पिणी थी। छोटे भाई के बारम्बार मना करने पर भी बड़े भाई यक्षलिक ने सर्पिणी के ऊपर गाड़ी चला दी, जिससे उसकी देह छूट गयी और वह महादुःख से अकामनिर्जरा करके मरण को प्राप्त हुई और वहाँ से श्वेताविक नाम की नगरी में वासव राजा की रानी वसुन्दरी के नन्दियशा नाम की पुत्री हुई, जिसका विवाह राजा गङ्गदेव से हुआ है।

कितने ही दिन पश्चात् यक्षलिक मरकर रानी नन्दियशा के

निर्नामिक नाम का पुत्र हुआ – इस कारण पूर्वभव के विरोध से नन्दियशा, पुत्र निर्नामिक के प्रति द्वेष रखती है।

मुनिराज के द्वारा यह कथा सुनकर राजा गङ्गदेव आदि सब संसार से विरक्त हो गये, उन्होंने अपने देवनन्दि पुत्र को राज्यादि सौंपकर, दो सौ राजाओं के साथ मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। साथ ही उनके छहों पुत्र और निर्नामिक तथा श्रेष्ठीपुत्र शंखादि भी मुनि हुए। रानी नन्दियशा, रेवती धाय और बन्धुमति सेठानी भी आर्यिका हो गयी।

निर्नामिक मुनि ने उग्र तप करके नारायण पद का निदान किया और वह तप के प्रभाव से समाधिमरण करके स्वर्ग में गया। कितने ही समय पश्चात् स्वर्ग से चयकर रेवती धाय का जीव भद्रलपुर में सुदृष्टि नामक सेठ की अलङ्का नामक स्त्री हुई; रानी नन्दियशा का जीव देवकी हुई और गङ्ग आदि पूर्व भव के छहों पुत्र स्वर्ग से आकर इस भव में भी देवकी के तीन युगल पुत्र होंगे और वे तद्भव मोक्षागामी, गुण के समुद्र होंगे। अलङ्का नामक सेठानी के तीन मृतक युगल पुत्र होंगे। इन्द्र की आज्ञा से देव, अलङ्का के यहाँ देवकी के तीन युगल पुत्र को ले जाएगा और अलङ्का के मृतक तीन युगल पुत्र यहाँ लायेगा। तेरे पुत्र भद्रलपुर में सुदृष्टि सेठ के घर अलङ्का सेठानी के यहाँ युवा होंगे और नेमीनाथ जिनेश्वर के शिष्य होकर वे तीनों युगल मुनि तेरे घर भिक्षा / आहार के लिये आयेंगे। उनके प्रति तुझे पुत्रवत् स्नेह उत्पन्न होगा। वे छहों महामुनि उग्र तप करके कर्मों का अभाव करके उसी भव में सिद्धिधाम पधारेंगे। सात चोर भाईयों में से बड़ा भाई सुभानु–श्रेष्ठीपुत्र

शंख, रोहिणी का पुत्र बलभद्र होगा और माँस भक्षक, मुनिहिंसक रसोईया, अर्थात् निर्नामिक का जीव, देवकी का सातवाँ पुत्र श्रीकृष्ण नारायण होगा।

इस प्रकार वासुदेव अपने तीन युगल पुत्रों, बलदेव, वासुदेव और देवकी के पूर्व भव का सम्बन्ध आदि अतिमुक्तक मुनि के द्वारा सुनकर परम हर्षित होकर मुनिराज को बारम्बार वन्दन और स्तुति करके अपने घर गये।

अहो! आश्चर्य है कि सप्त व्यसनों के व्यसनी सात चोर भाई, स्त्री-चरित्र का निमित्त पाकर मुनिराज के धर्मोपदेश द्वारा आत्मोन्नति के मार्ग में प्रयाण करते हैं। अहो! देखो तो सही! पूर्व भव में सङ्कल्पपूर्वक नागिन को गाड़ी के नीचे दबाकर मार देनेवाला श्रीकृष्ण का जीव मरकर उसी नागिन के जीव / रानी के गर्भ से पुत्र होकर जन्मा। क्रोध से जिस नागिन के जीव को मारा, वही माता बनी और वही जो पूर्व भव में मुनिराज को कड़वी तुम्बी का आहार कराकर मुनि हिंसा करनेवाला माँसभक्षी रसोइया था, वह कृष्ण का जीव भविष्य में तीर्थङ्कर होगा।

परम पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि पूर्व का महापापी जीव भी अनन्त शक्ति से परिपूर्ण ज्ञायकस्वभाव की महिमा लाकर स्वभावसन्मुख दृष्टि करके भगवान बन जाता है।

(- श्री हरिवंशपुराण के आधार से सार-संक्षेप)

2

गौतम गणधर का जीवन चरित्र

पतित से पावन

राजगृही नगरी में भगवान महावीर के मौसा राजा श्रेणिक राज्य करते थे। उनमें समुद्र जैसी गम्भीरता, चन्द्रमा के समान सुन्दरता, पर्वत के समान निश्चलता और बृहस्पति के समान बुद्धिमता आदि अनेक निर्मल गुण थे।

एक बार अनेक देशों में बिहार करते हुए अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीरस्वामी विपुलाचल पर्वत के मस्तक पर समवसरणसहित आकर विराजमान हुए। महाराज श्रेणिक को भगवान के पधारने के समाचार मिलते ही वे तुरन्त परिवारसहित समवसरण में गये और भगवान को वन्दन-नमस्कारादि करके धर्म का उपदेश सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। उन्होंने भगवान को हाथ जोड़कर, नमस्कार करके पूछा – 'हे प्रभो ! यह गौतमस्वामी कौन है ? किस पर्याय से आकर यहाँ जन्म लिया है और इनको किस धर्म के प्रभाव से अनेक लब्धियाँ प्राप्त हुई हैं ? कृपा करके यह सब बातें विस्तार से बतलाने का अनुग्रह करें।'

राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में भगवान जिनेन्द्रदेव की

दिव्यध्वनि में गौतमस्वामी के जीवनचरित्र सम्बन्धी जो वर्णन आया, वह इस प्रकार है –

❖ ❖ ❖

इस भरतक्षेत्र में अनेक नगरों से सुशोभित एक अवन्ति नामक देश है। उस देश के राजा का नाम महीचन्द था। एक दिन इस नगरी के उपवन में अङ्गभूषण नाम महामुनिराज पधारे। मुनिराज का आगमन जानकर, राजा महीचन्द अपने रनवास और नगरजनों को साथ लेकर मुनिराज के दर्शन करने के लिए उपवन में गया। उपवन में मुनिराज के दर्शन, पूजन, वन्दन, स्तुति करके, उन मुनिराज के धर्मवृद्धिरूप आशीर्वाद को प्राप्त करके, उनके समीप बैठ गया। उस वन में मुनिराज से धर्मामृत पान करने के लिए विशाल जन समुदाय एकत्रित हुआ था। वहाँ किसी क्षुद्र की तीन कुरूपा कन्याएँ भी शीघ्रता से आकर बैठ गयीं।

मुनिराज ने अपने धर्मोपदेश में पुण्य, पाप और धर्म तथा उनके फल का विस्तारपूर्वक उपदेश देते हुए कहा – हे भव्य प्राणियों! यह आत्मा, ज्ञान और आनन्द का पिण्ड है। स्वभाव से ही सदा शुद्ध एवं पर के सम्बन्ध से रहित चैतन्यमूर्ति है। अपने चैतन्यस्वरूप का विस्मरण करके एवं संयोगरूप में प्राप्त शरीर, स्त्री, पुत्र,

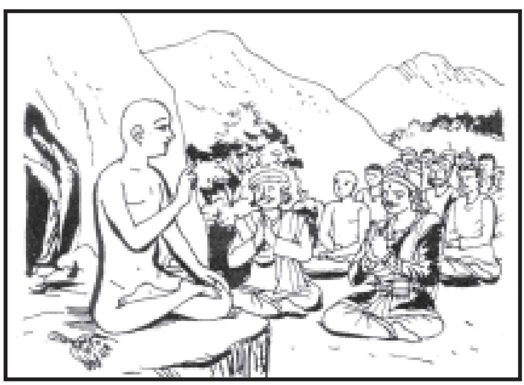

धनादिक परद्रव्यों में अपनत्व करके ही संसार की चारों गतियों में परिभ्रमण कर रहा है।

यह अज्ञानी आत्मा कभी परलक्ष्य से पापभाव करके नरक, तिर्यञ्चगति का तो कभी पुण्यभाव करके मनुष्य अथवा देवगति का पात्र बनता है, किन्तु अपने आत्मस्वरूप की श्रद्धा–ज्ञान–चारित्ररूप रत्नत्रय बोधि के अभाव में संसार से परिमुक्त होकर शाश्वत् सिद्धपद को प्राप्त नहीं कर पा रहा है।

हे जीवों! यदि तुम्हें संसार परिभ्रमण का अभाव इष्ट हो तो अपने देह–देवालय में विराजमान निज चैतन्य भगवान आत्मा में अपने उपयोग को लगाओ। अपने को जानो, पहिचानो, अपने में ही जम जाओ–रम जाओ – यही सुखी होने का एकमात्र उपाय है।

मुनिराजश्री के मुखरूपी चन्द्रमा से झरते उपदेशरूपी अमृत का पान करके राजा महीचन्द बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसी जनसमुदाय के बीच क्षुद्र की कन्याएँ भी बैठी थीं, उन पर राजा की नजर पड़ी। उनको देखते ही राजा के नेत्र प्रफुल्लित हो गये, मुख और मन आनन्दित हो गये। यद्यपि वे कन्याएँ दुष्टस्वभावी थी, दीन थी, तीव्र दुःखों से दुःखी थी, काली थी, दयारहित थी, माता–पिता, भाई–बन्धुओं से रहित थीं, फिर भी 'इन्हें देखनेमात्र से मुझे प्रसन्नता क्यों हुई?' – ऐसा भाव उत्पन्न होने पर राजा ने तुरन्त ही मुनिराज से पूछा – 'हे प्रभो! इन क्षुद्र कन्याओं को देखकर मेरे हृदय में अत्यन्त प्रेम क्यों उत्पन्न हो रहा है?'

मुनिराज ने कहा 'हे भव्य! इनके साथ तुम्हारा पूर्व भव का

सम्बन्ध था, उसे मैं कहता हूँ, तू ध्यान देकर सुन!'

❖ ❖ ❖

इस भरतक्षेत्र में काशी नामक महाविशाल देश है। जो तीर्थङ्कर परमदेव के पञ्च कल्याणकों सहित अनेक प्रकार की शोभा से सुशोभित है। इस काशी देश में बनारस नामक एक नगर है। उसमें विश्वलोचन नामक राजा राज्य करता था। उस राजा के विशालाक्षी नामक रानी थी, वह इन्द्राणी, रतिदेवी, नागश्री अथवा देवांगनाओं के समान सुन्दर थी। राजा विश्वलोचन को वह रानी अत्यन्त प्रिय थी।

एक दिन रानी विशालाक्षी प्रसन्नता से अपनी चामरी और रङ्गिका नामक दो दासियों के साथ राजमहल के झरोखे में खड़ी हुई थी। राजमार्ग में नाच, गान आदि से सुशोभित एक नाटक चल रहा था, जो समस्त प्रजाजनों के मन को मोहित कर रहा था। उस नाटक को देखते ही रानी विशालाक्षी का मन चञ्चल हो गया। वह अपने हृदय में विचार करने लगी – 'अरे! इस राज्यसुख से मुझे क्या लाभ है? मैं तो एक अपराधी की तरह जेलखाने में बँधी पड़ी हूँ। संसार में वे ही स्त्रियाँ धन्य है, जो अपनी इच्छानुसार जहाँ-तहाँ घूमती हैं, परन्तु मुझे पूर्व पापकर्मोदय से इच्छानुसार घूमने-फिरने का सुख प्राप्त नहीं हुआ; अतः अब मैं इच्छानुसार घूमने-फिरनेरूप संसार का फल शीघ्र और सदा के लिए चाहती हूँ। इस विषय में लज्जा मेरा क्या करेगी?'

इस प्रकार विचार करके रानी ने छल-कपट में अत्यन्त चतुर अपनी दो दासियों को बुलाकर कहा – 'हे दासियों! इच्छानुसार

घूमने–फिरने के सुख से तो मनुष्यभव सफल होता है और वह काम–भोग को देनेवाला है। अतः अपने को शीघ्र ही यहाँ से निकलकर इच्छानुसार घूमना–फिरना चाहिए।'

रानी की बात सुनकर दासियाँ कहने लगीं – 'हे स्वामिनी! यह आपने बहुत उत्तम विचार किया है। संसार में मनुष्यजन्म का फल यही है।'

तत्पश्चात् कामवासना से पीड़ित, अन्ध और दुष्ट हृदयवाली, कुलाचाररहित, कुबुद्धि की धारक रानी अपने पापकर्मोदय से उन दोनों दासियों के साथ घर से निकलने का उपाय करने लगी।

झूठ बोलना, दुर्बुद्धि होना, कुटिल हृदय, छल–कपट करना और मूर्खता – यह स्त्रियों के स्वाभाविक गुण हैं। ये सब गुण, रानी में विद्यमान थे ही; अतः रात्रि होते ही उसने रुई भरकर एक स्त्री का पुतला बनाया और उसे वस्त्र तथा गहनों से सुसज्जित करके पूरा–पूरा स्वयं के रूप जैसा बनाकर पलङ्ग पर सुला दिया।

रानी ने द्वारपाल आदि सेवकों को भी वस्त्राभूषण, धन आदि देकर अपने वश में कर लिया। तत्पश्चात् पूर्वकृत पापकर्मोदय से रानी ने दोनों दासियों को साथ लेकर किसी देवी की पूजा के बहाने अर्धरात्रि के समय राजमहल का परित्याग कर दिया। उन सबने सुन्दर वस्त्राभूषण और राज के चिह्नों को त्यागकर, भगवे वस्त्र पहिनकर योगिन का रूप धारण किया। राज्य में मिलनेवाला भोजन तो छूट ही गया, अतः भूख शान्त करने के लिए वे तीनों वृक्ष के फल खाकर अपनी क्षुधा शान्त करने लगीं।

❖ ❖ ❖

जब रात्रि के समय राजा विश्वलोचन अपनी प्रिय रानी के महल में गया, तब रानी को शृङ्गारयुक्तदशा में पलङ्ग पर सोया हुआ देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ, परन्तु रानी के द्वारा आदर-सत्कार न देखकर विचार करने लगा कि रानी को क्या हुआ? इसके शरीर में कोई रोग हुआ है या अन्य कोई बात है? इसी चिन्ता में व्याकुल राजा ने पलङ्ग पर बैठकर रानी का स्पर्श किया, तब उसे ज्ञात हुआ कि यह तो रानी का पुतला है। 'रानी का किसी पापी ने हरण कर लिया है' - ऐसा समझकर राजा बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ा। सेवकों द्वारा शीतोपचार से होश में आने पर राजा, रानी का गुणगान करने लगा –

'हे चन्द्रवती! तू कहाँ गयी? तेरी रक्षा करनेवाली दोनों दासियाँ कहाँ गयी? इस महल में तो कोई आ भी नहीं सकता, फिर भी तेरा किस उपाय से हरण कर गया? या फिर कुल -आचार से रहित दुष्ट तू स्वयं ही नष्ट हो गयी? **नीच मनुष्यों की सङ्गति से सज्जन भी नष्ट हो जाते हैं।** स्त्री जैसी अन्दर से होती है, वैसी बाहर से नहीं दिखती है और जैसी बाहर से दिखती है, वैसा कार्य नहीं करती है। स्त्रियों के चरित्र को भला कौन जान सकता है? अहा! समस्त गुणों को धारण करनेवाली रानी अपने दस वर्ष के पुत्र और पटरानी पद को छोड़कर कैसे चली गयी? इस प्रकार रानी के वियोग में बहुत समय तक दुःखी होकर राजा मर गया।

राजा के मरणोपरान्त मन्त्री आदि ने उसके पुत्र को राजगद्दी पर बिठाया।

वह राजा का जीव मरकर विशालकाय हाथी हुआ। उसके

पुण्योदय से उस वन में एक अवधिज्ञानी मुनिराज पधारे। मुनि ने हाथी को धर्मोपदेश देते हुए कहा – 'हे गजराज! तू ज्ञान और आनन्द का पिण्ड शुद्धात्मा है। यह हाथी का शरीर तो अनन्त पुद्‍गल परमाणुओं का पिण्ड है, इसके साथ तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः इस शरीर के प्रति एकत्वबुद्धि का परित्याग करके निज चैतन्यसत्ता को देख! सम्यक्त्व को ग्रहण कर! श्रावक के व्रत ग्रहण कर।'

मुनिराजश्री के मुखरूपी चन्द्र से झरते अमृत का सेवन करके हाथी ने श्रावक के व्रत धारण किये और अन्त समय में समाधिमरणपूर्वक मरकर पहले स्वर्ग में देव हुआ। स्वर्ग के सुख भोगकर, वहाँ से च्युत होकर तू महीचन्द नाम का उत्तम राजा हुआ है। पूर्व भव के स्नेह से तुझे इन कन्याओं को देखकर अनुराग उत्पन्न हुआ है। हे भव्य! आगे चलकर तेरी मुक्ति होगी।

हे राजा महीचन्द! अब तू इन तीन स्त्रियों की कथा सुन। यह तीनों स्त्रियाँ अपनी इच्छानुसार बहुत प्रसन्नता से अनेक देशों में भ्रमण करने लगी। इन तीनों जोगिनों के साथ अन्य अनेक जोगिनें थी, जो भीख माँग–माँगकर पेट भरती थी। ये जोगिनें हमेशा प्रमाद करनेवाली मदिरा पीती और शरीर को पुष्ट रखने के लिए माँस का भक्षण करती थी। अनेक जीवों से भरे हुए महापाप को उत्पन्न करनेवाले पाँच उदम्बर फलों का सेवन करती थी। तीनों स्त्रियाँ, कामसेवन की इच्छा से प्रसन्न होकर उत्तम अथवा नीच जो मिले, उस पुरुष का सेवन करती थी। लोगों के सामने गीत गाती थी और विचित्र बातें करती थी कि हमको जोग (योग) धारण किये हुए सौ वर्ष बीत चुके हैं।

एक दिन धर्माचार्य नाम के मुनिराज, आहार के लिए ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक गमन कर रहे थे। ऐसे श्रेष्ठ मुनि को देखकर तीनों स्त्रियाँ लाल-लाल आँखें करके कहने लगी – 'अरे नग्न घूमनेवाले! हम उज्जैनी नगरी के दयालु राजा के पास धन लेने जा रही थी, किन्तु न जाने किस पाप के उदय से तू हमारे सामने आ गया? तू दुराचारी है। क्या तूने अपनी लज्जा बेच दी है कि स्त्रियों के सामने भी तू नग्न घूमता है? हे मूर्ख योगी! तूने हमारा अपशकुन किया है, इसलिए अब हमारे कार्य की सिद्धि नहीं होगी। अभी तो दिन है, परन्तु इस अपशकुन का फल तुझे रात्रि में देंगी।

इस प्रकार इन स्त्रियों के दुष्ट वचन सुनकर भी मुनिराज ने क्रोध नहीं किया। **जैसे, पानी से भरी हुई पृथ्वी पर अग्नि कुछ नहीं कर सकती; उसी प्रकार क्षमाधारी पुरुष के लिए दुष्ट वचन भी कुछ नहीं कर सकता। जिस प्रकार पत्थर का मध्य भाग पानी से कभी नरम नहीं होता, उसी प्रकार योगीश्वरों का निर्मल हृदय, क्रोधाग्नि से कभी नहीं जलता।**

तत्पश्चात् वे तीनों स्त्रियाँ रात्रि के समय मुनिराज के समीप गयीं और क्रोधित होकर अनेक प्रकार के उपद्रव करने लगी। एक तो मुनिराज के समीप आकर रोने लगी; दूसरी काम-वासना से पीड़ित होकर मुनि के शरीर से लिपट गयी और तीसरी ने धुआँ करके मुनिराज को बहुत कष्ट दिया। तत्पश्चात् कामज्वर से पीड़ित वे तीनों स्त्रियाँ अनेक प्रकार के कटाक्ष करती हुई मुनिराज के समक्ष नग्न होकर नृत्य करने लगी और पत्थर, लकड़ी, मुक्का, लात, जूता आदि से उन्हें मारने लगीं। उन दुष्टात्माओं ने मुनिराज

को बाँध लिया, तथापि मुनिराज चलायमान नहीं हुए। सत्य ही है – क्या प्रलयकाल की वायु से महान मेरुपर्वत चलायमान होता है ?

उस समय इन उदयजन्य बाह्य उपसर्ग की विषम परिस्थिति से अत्यन्त निरपेक्ष रहकर वे मुनिराज अपने हृदय में बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने लगे। संसाररूपी समुद्र में डूबे हुए प्राणियों को पार उतारने के लिए अनुप्रेक्षा ही नाव के समान है।

प्रात:काल होने पर इन उपद्रवों को व्यर्थ समझकर तथा मार्ग में आते-जाते लोगों के डर से तीनों स्त्रियाँ भाग गयीं। उन्होंने मुनिराज पर घोर उपसर्ग किया, वह अत्यन्त दुःखदायी था। इस पापकर्म के उदय से तीनों स्त्रियों को कोढ़ हो गया। सभी लोग उनकी निन्दा करने लगे। तीनों स्त्रियाँ कोढ़ के रोग से हमेशा महा दुःखी रहती थी। आयु समाप्त होने पर रौद्रध्यानपूर्वक मरकर तीनों स्त्रियाँ पाँचवें नरक में उत्पन्न हुई और नरक के असहनीय दुःखों को भोगने लगी। नरक की आयु पूर्ण होने पर तीनों ने एक समान ही कर्मबन्ध किया होने से तीनों जीव क्रमशः बिल्ली, सुअरी, कुत्ती और मुर्गी की योनियों में उत्पन्न हुए, वहाँ भी वे जीवों की हिंसा करती, आपस में लड़ती-झगड़ती, घर-घर फिरती और मनुष्यों को मारकर खाती रही।

अन्त में आयु पूर्ण होने पर तीनों मुर्गियाँ बहुत ही दुःखी होकर मरकर धर्मस्थानों से सुशोभित अवन्तिदेश के बगल में हल्के लोगों की बस्ती में किसी एक परिवार में कन्याएँ हुई। इनके गर्भ में आते ही धनादि नष्ट हो गया, जन्म होते ही माता मर गयी। तीनों में एक कानी, एक लंगड़ी और एक काली थी। वे मुनियों पर घोर उपसर्ग के पाप से हमेशा दुःखी रहा करती थी। इनके शरीर, अङ्ग-उपाङ्ग बेडोल थे। रोग की दुर्गन्ध से नगर में जाते ही सम्पूर्ण नगर में अत्यन्त दुर्गन्ध फैल जाती थी। तीनों कन्याएँ तीव्र भूख-प्यास से पीड़ित थी। दुराचार करने में हमेशा तत्पर ऐसी ये तीनों कन्याएँ विदेश पर्यटन के लिए निकली थी। रास्ते में सदा आपस में लड़ती-झगड़ती अनेक नगरों में भ्रमण करती, माँगती, खाती अनुक्रम से इन नगर में आई है। यद्यपि इनके शरीर अत्यन्त ही मलिन है, तथापि इन्होंने प्रसन्नचित्त होकर मुनिराज के पास आकर वन्दन किया है। जिस प्रकार बादलों की गर्जना सुनकर मयूर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार मुनिराज के मुख से अपना भूतकाल सुनकर तीनों कन्याएँ पश्चातापपूर्वक प्रसन्न हुई हैं।

तत्पश्चात् संसार के दुःखों से भयभीत ये तीनों कन्याएँ, मुनिराज को भक्ति से नमस्कार एवं स्तुति करके प्रार्थना करने लगी – 'हे प्रभो ! हे स्वामिन् !! इस संसाररूप अपार समुद्र में डूबे हुए समस्त प्राणियों को पार लगाने के लिए आप जहाज के समान हैं। पूर्व भव में हमने जो घोर पाप किया था, कृपा करके उसके नाश का कोई उपाय बताओ।'

मुनिराज उन कन्याओं के शुभ वचन सुनकर तथा उन्हें निकट

भव्य समझकर मीठी वाणी से कहने लगे – 'हे पुत्रियों! आत्मा तो सदा काल सुख सम्पन्न ही है परन्तु इस जीव ने अनादि काल से पर में सुख की कल्पना कर रखी है। अपने निज सुख की उसे आज तक उपलब्धि नहीं हुई; अतः तुम अब पर से सुख की चाह मिटाकर अपने सुख को ही उपलब्ध करने हेतु लब्धिविधान करो, अर्थात् क्षयोपशम, विशुद्धिलब्धिपूर्वक देशनालब्धि द्वारा प्रायोग्यलब्धि में प्रवेश कर करणलब्धि द्वारा मिथ्यात्व का नाश कर सम्यक्त्व प्राप्त करो। सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावक के व्रत अङ्गीकार करो। यह व्रत कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करनेवाला है और संसाररूपी समुद्र से पार उतारनेवाला है।'

उन कन्याओं ने मुनिराज के उपदेशानुसार श्रावकों की मदद से तत्त्वज्ञान का अभ्यास कर भेदविज्ञान की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित करके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय को मिटानेवाली लब्धि (करणलब्धि) प्राप्त की। इस प्रकार लब्धिविधान व्रत का उद्यापन कर, श्रावकों के व्रत धारण किये, शीलव्रत धारण किया और अन्त समय में समाधिमरण को धारण करके मृत्यु को प्राप्त हुईं। यहाँ से पाँचवें स्वर्ग में जाकर स्त्रीलिङ्ग का छेद करके प्रभावशाली देव हुईं और स्वर्ग में उत्तम प्रकार के भोग भोगे।

❖ ❖ ❖

इस भरतक्षेत्र में मगधदेश में ब्राह्मण नाम का नगर है। उसमें एक शाण्डिल्य नाम का धनी गुणवान ब्राह्मण था। उसकी स्थंडिला नाम की रूपवती, सौभाग्यशाली स्त्री थी। स्वर्ग में जो बड़ा देव (रानी का जीव) था, वह आकर उनके यहाँ गौतम नाम का पुत्र हुआ और दूसरा देव भी स्थंडिला के ही गार्ग्य नाम का पुत्र हुआ;

तीसरा देव भी उसी ब्राह्मण की दूसरी पत्नी के उदर से भार्गव नाम का पुत्र हुआ। जैसे, कुन्ती के पुत्र पाण्डवों के बीच परस्पर अत्यन्त प्रेम था, इसी प्रकार इन तीनों भाईयों में अत्यन्त प्रेम था। तीनों भाईयों ने ब्राह्मणों की समस्त क्रिया पढ़ ली थी। तीनों में गौतम सबसे बड़ा था, वह समस्त शास्त्रों का ज्ञानवान था। गौतम ब्रह्मशाला में पाँच सौ शिष्यों का सुविख्यात उपाध्याय था।

❖ ❖ ❖

उसी समय भगवान महावीरस्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवों ने आकर समवसरण की रचना की। भगवान सिंहासन पर विराजमान हुए, परन्तु छियासठ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी। यह देखकर सौधर्म इन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा कि यदि गौतम यहाँ जा जाए तो भगवान की दिव्यध्वनि खिरेगी। यह विचार करके इन्द्र ने स्वयं ही एक अतिशय वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण किया और लकड़ी के सहारे धीमें-धीमें चलते हुए गौतम के समीप आया और बोला – 'हे विद्वान्! संसार में अपना पेट भरनेवाले तो बहुत हैं, परन्तु इस काव्य का अर्थ करनेवाले इस पृथ्वी पर कोई विरल पुरुष होंगे? मेरे गुरु इस समय आत्मध्यान में लीन है; अतः अभी मुझे कुछ नहीं बता सकते; इसलिए मैं इस काव्य का अर्थ समझने के लिए आपके पास आया हूँ।'

उसके उत्तर में गौतम ने कहा – 'हे ब्राह्मण! तुम अपने काव्य का बहुत अभिमान करते हो। यदि मैं इस काव्य का अर्थ कर दूँ तो तुम मुझे क्या दोगे?'

वृद्ध ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र ने कहा – 'यदि तुम मेरे काव्य का अर्थ कर दोगे तो मैं सबके सामने तुम्हारा शिष्य बन जाऊँगा और

यदि तुम अर्थ नहीं बता सको तो अपने समस्त अभिमानी शिष्यों और दोनों भाईयों के साथ आकर मेरे गुरु के शिष्य बन जाओ।'

गौतम ने कहा – 'हाँ, मुझे यह बात स्वीकार है।'

इन्द्र ने गौतम से काव्यरूप में पूछा – 'द्रव्य कितने हैं ? तत्त्व कितने ? अस्तिकाय कितने हैं ? धर्म के कितने भेद हैं ? श्रुतज्ञान के अङ्ग कितने है ?'

ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र का काव्य सुनकर गौतम थोड़ा दुःखी हुआ और मन में विचार करने लगा कि इस काव्य का क्या अर्थ कहूँ ? फिर गौतम ने विचारकर वृद्ध ब्राह्मण से कहा कि 'चलूँ ! तेरे गुरु से विवाद करूँ।' इस प्रकार कहकर सब इन्द्र के साथ चलने लगे। मार्ग में गौतम ने विचार किया कि जब मैं इस वृद्ध के प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका, तब इसके गुरु तो महान विद्वान होंगे, उनको उत्तर मैं किस प्रकार दूँगा ?

इन्द्र, गौतम को अपने गुरु के पास समवसरण में ले जाकर सन्तुष्ट हुआ। जिसने अपनी शोभा द्वारा तीनों लोकों में आश्चर्य उत्पन्न किया है – ऐसे मानस्तम्भ को देखकर गौतम ने अपना सब अभिमान त्याग दिया। उन्होंने मन में विचार किया कि जिस गुरु के सम्पूर्ण पृथ्वी में आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली इतनी विभूति है, क्या वे मुझसे पराजित हो सकते हैं ? बिल्कुल नहीं।

तत्पश्चात् आगे जाकर वीर प्रभु के दर्शन करके गौतम अनेक प्रकार से स्तुति करने लगे तथा पाँच सौ शिष्यों और दोनों भाईयों के साथ जिनेश्वरी दीक्षा अङ्गीकार कर ली। वीरनाथ भगवान के समवसरण में चार ज्ञान से सुशोभित ऐसे गौतम (इन्द्रभूति)

अग्निभूति, वायुभूति आदि ग्यारह गणधर हुए और वीरनाथ की दिव्यध्वनि खिरने लगी।

तपश्चरण करते-करते एक दिन गौतम मुनिराज एकान्त प्रासुक स्थान में विराजमान होंगे और निश्चल ध्यान में लीन होकर त्रेसठ प्रकृतियों को नष्ट करके कार्तिक बुद अमावस्या के दिन सायंकाल केवलज्ञान प्राप्त करके तेरहवें गुणस्थान में विराजमान होंगे।

❖ ❖ ❖

अहो! गौतम स्वामी का जीव पहले विश्वलोचन महाराज की पटरानी होकर दुराचारी, विषय लम्पटी, माँसभक्षी, मुनिनिन्दक, मुनिहिंसक, रौद्रध्यानी, नरकगामी हुआ और नरक में से निकलकर बिल्ली, सुअरी, कुत्ती, मुर्गी, और कानी, लंगड़ी, कुबड़ी क्षुद्र कन्या हुई; भीख माँगती-माँगती मुनिराज के दर्शन और उपदेश से व्रतादि धारण करके समाधिमरणपूर्वक स्त्रीलिङ्ग का छेद करके पाँचवे स्वर्ग में उत्तम देव हुआ और वहाँ से आकर ब्राह्मण कुल में पैदा होकर वेद-वेदान्त में पारङ्गत हुआ; तत्पश्चात् इन्द्र के माध्यम से समवसरण में गया, मानस्तम्भ को देखकर मान गलित हुआ तथा दीक्षा अङ्गीकार करके चार ज्ञान प्रगट करके अन्तर्मुहूर्त में बारह अङ्ग चौदह पूर्व की रचना करनेवाले गणधर पद को प्राप्त किया, आगे क्रमशः केवलज्ञान प्रगट करेंगे।

हे श्रेणिक! इस प्रकार गौतम गणधर के अशुभ-शुभ और शुद्धपरिणाम तथा उसका फल तुझे बताया। जो भव्य जीव, आत्मा की शुद्धता को जानते हैं और उसका विश्वास करते हैं, आनन्द की अनुभूति में लीन रहते हैं, वे जीव, संसार भ्रमण से छूटकर मुक्ति को प्राप्त करते हैं। *(- गौतमस्वामी चरित्र से)*

धन्य धन्य हे गौतम गुरु....

धन्य-धन्य हे गौतम गुरु पुरुषार्थ तुम्हारा;
निश्चय भक्ति करी प्रभु की भव का लिया किनारा॥ टेक॥

शिष्य पाँच सौ पाये इस गौरव में भरमाये;
जिनशासन के तीव्र विरोधी मोह महातम छाये।
कहाँ छिपी थी महायोग्यता जिससे किया उजारा॥ 1॥

काललब्धि जब आई इन्द्र निमित्त बन आया;
जिनशासन के सारभूत इक मङ्गल छन्द सुनाया।
मङ्गलमय भवितव्य दिशा में तुमने चरण बढ़ाया॥ 2॥

वीरप्रभु के समवसरण का मानस्तम्भ निहारा;
मिथ्यामद गल गया तुम्हारा वेश दिगम्बर धारा।
योग्य शिष्य थे वीर प्रभु के झेली जिन-श्रुतधारा॥ 3॥

अनेकान्तमय वस्तु बताई स्याद्वाद के धारा;
वीरप्रभुजी मुक्ति पधारे तुमने 'केवल' धारा।
धन्य-धन्य निर्वाण महोत्सव जग में हुआ उजारा॥ 4॥

3

जिनशासन गौरव

अनुबद्ध केवली सुधर्मस्वामी

मगधदेश के संवाहननगर में राजा सुप्रतिष्ठ राज्य करते थे। उनकी धर्मवत्सला सहधर्मिणी का नाम रुक्मिणी था। उन दोनों के सुधर्म नामक प्रिय पुत्र था जो कुशाग्र बुद्धि, विद्याओं के परिज्ञान में ज्येष्ठ, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता, कलाओं का धारक और सज्जनों के मन को आनन्द प्रदाता एवं शत्रु पक्ष के राजकुमारों को भय उत्पन्न करनेवाला, अर्थात् पराक्रमी था।

एक दिन समवसरणसहित भगवान महावीर के मङ्गल शुभागमन के समाचार सुनकर, राजा सुप्रतिष्ठ सपरिवार प्रभु की वन्दना एवं धर्मोपदेश के लाभ की भावना से समवसरण में पहुँचा।

प्रशान्त मुद्राधारी वीर प्रभु का साक्षात्कार होते ही राजा सुप्रतिष्ठि अत्यन्त हर्षित हुआ। अहो! जैसे रङ्क पुरुष, चिन्तामणि को पाकर निहाल हो जाता है, उसी प्रकार वीर प्रभु को पाकर, उनके दर्शन करके राजा परम प्रमुदित हुआ। अनेक प्रकार से जिनेन्द्रदेव की स्तुति करते हुए वह अपने योग्य स्थान पर बैठ गया।

'भविभागन बचजोगेवसाय' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए

उसी समय चैतन्यस्वरूप की गर्जना करती हुई भगवान की दिव्यध्वनि खिरने लगी।

प्रभु की दिव्यध्वनि में राजा ने सुना – **अहो! भव्य जीवों! आत्मस्वभाव अचिन्त्य वैभवशाली है। प्रत्येक आत्मा स्वभाव से भगवान है। यदि सही दिशा में पुरुषार्थ करे तो प्रगट पर्याय में भी भगवान बन सकता है। अरे! खेद है कि इस जीव ने अब तक पाँच इन्द्रियों के विषयरूपी मदिरा का पान करके अपने आत्मस्वरूप को भुला दिया। जिस प्रकार अग्नि कभी भी ईंधन से तृप्त नहीं होती; उसी प्रकार पञ्चेन्द्रियों की विषय तृष्णा कभी भी भोग सामग्री से तृप्त नहीं हो सकती।**

हे भव्य जीवों! यह जीवन क्षणभंगुर है, शीघ्र आत्महित करने का यह उत्तम अवसर आया है। चिन्तामणि सदृश इस महा दुर्लभ अवसर को देहाश्रित पञ्चेन्द्रियों के भोगों में गँवा देना तो राख के लिए रत्न जलाने जैसा अविवेकपूर्ण कृत्य है। चेतो! चेतो!! आत्मकल्याण का अवसर बीता जा रहा है।

इस प्रकार भगवान की दिव्यध्वनि में चैतन्यप्रभु की महिमा एवं संसार–देह–भोगों की निःसारता की सिंहगर्जना से राजा सुप्रतिष्ठ के राग तन्तु टूट गये और वह संसार–शरीर–भोगों से विरक्त होकर नग्न दिगम्बर वीतरागी सन्त बन गया। अहो! वे मुनिराज तो तीर्थङ्कर प्रभु के चौथे गणधर भी हो गये।

अहा! राग से विराग का यह पावन दृश्य अद्‌भुत था!

★ ★ ★

अपने पिता को भवदु:ख विनाशिनी जिनदीक्षा से सुशोभित देखकर सुधर्मकुमार के मन में भी वैराग्यभाव प्रस्फुटित हो गया। कुमार विचारने लगा – अरे! अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हुए मैंने अनन्त बार अनेक प्रकार के मनोरम भोग भोगे; अनन्त बार बाह्य राज्य-वैभव का उपभोग किया, किन्तु चैतन्यपद का राज्य आज तक प्राप्त नहीं कर पाया। अहा! अब तो इस मनुष्यभव में मुक्तिवधू के स्वयंवर स्वरूप भगवती जिनदीक्षा का मङ्गल अवसर आया है। मैं भी आज ही भगवती जिनदीक्षा अङ्गीकार करूँगा।

इस प्रकार चिन्तवन करके सुधर्मकुमार ने भी जिनदीक्षा अङ्गीकार कर ली।

★ ★ ★

जिनकी वृत्ति आकाश के समान निसङ्ग और वायु के समान निर्लेप है – ऐसे मुनिराज सुधर्मस्वामी मुनिसंघ के साथ विहार करने लगे। जहाँ-जहाँ भी मुनिराजश्री के चरण पड़ते, वह धरती धन्य हो जाती। वन में जाति विरोधी पशु भी मुनिराज की परम शान्तमुद्रा को देखकर पारस्परिक वैरभाव का परित्याग कर देते।

एक बार शत्रु-मित्र, कञ्चन-काँच, महल-श्मशान के प्रति समभावी मुनिराज सुधर्मस्वामी विहार करते-करते राजगृही के उद्यान में पधारे। मुनिराज के शुभागमन से सारा वन बसन्तोत्सव जैसा बन गया।

उसी उद्यान में जम्बूस्वामी ने मुनिराज सुधर्मस्वामी को देखकर अत्यन्त प्रसन्नता एवं भक्तिपूर्वक वन्दन किया और एकटक भाव से मुनिराजश्री को देखने लगे। जम्बूस्वामी के अन्त:स्थल में

मुनिराज के प्रति अत्यन्त अनुराग का भाव उत्पन्न हुआ; इस कारण उन्होंने पूछा – 'हे प्रभो! आपके दर्शनमात्र से मेरे मन में आपके प्रति बन्धुत्व का अनुराग उत्पन्न हुआ है, इसका क्या कारण है?'

सुधर्मस्वामी ने कहा – 'हे वत्स! यह स्नेह का बन्धन भी अद्भुत है! मैं पूर्व भव के तुम्हारे भाई भवदत्त का जीव हूँ, जो राजा वज्रदन्त का सागरचन्द्र नामक पुत्र था और वैराग्य पाकर, जिनदीक्षा अङ्गीकार कर, आत्मसाधना अपूर्ण रह जाने से जो ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में देव हुआ था।

तुम भवदेव के जीव हो, जो महापद्म राजा के शिवकुमार नामक पुत्र थे और अपने पिता के मोहवश जिनदीक्षा अङ्गीकार न करके घर में ही पाणिपात्र में प्रासुक आहार लिया करते थे। तुम वहाँ से चयकर जलकान्त विमान में चार देवियों से युक्त विद्युन्माली नामक देव हुए थे और अब वहाँ से आकर वणिक अर्हत्‌दास के पुत्र जम्बूकुमार हुए हो।

इस प्रकार पूर्व भव का पारस्परिक सम्बन्ध ही अनुराग का कारण है।'

अपने पूर्व भव का वृतान्त जानकर जम्बूस्वामी को प्रसन्नता हुई।

★ ★ ★

एक बार सुधर्मस्वामी संघसहित विहार करते हुए उड्रदेश के धर्मपुरनगर में पधारे और समीपवर्ती उपवन में स्थित होकर आत्माराधना करने लगे। उड्रदेश के राजा का नाम यम था। उसके

अनेक रानियाँ थीं, जिनमें धनवती रानी से गर्धभ नाम का पुत्र और कौणिका पुत्री उत्पन्न हुई थी। शेष रानियों से पाँच सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे। सभी पाँच सौ पुत्र एक-दूसरे के प्रति वात्सल्ययुक्त, धर्मात्मा और संसार के प्रति अत्यन्त उदासीन थे। इस राजा के राज्य मन्त्री का नाम दीर्घ था, जो अत्यन्त बुद्धिमान होने के साथ -साथ कुशल राजनीतिज्ञ भी था।

अपने वन में सुधर्मस्वामी का शुभागमन जानकर और नगर निवासियों को भक्तिभाव से ओतप्रोत होकर पूजा की सामग्री लेकर मुनिसंघ की पूजा-वन्दना करने हेतु जाते देखकर, राजा यम भी अपने पाण्डित्य के अभिमान से युक्त होकर, वीतरागी समभावी मुनिराजों की निन्दा करते हुए उनके समीप पहुँचा। वीतरागी मुनिराज की निन्दा और अपने क्षायोपशमिक ज्ञान के अभिमान के फलस्वरूप उसने अपनी आत्मा को भयङ्कर दुःख समुद्र में डुबो दिया। **अरे! धर्मात्मा का अवर्णवाद वस्तुतः धर्म का ही अवर्णवाद है, जिसका फल अनन्त संसार की दुःखमय दशा में परिभ्रमण करना होता है।** राजा यम को भी इस दुष्कृत्य से ऐसे तीव्र कर्म का उदय आया कि उसका समस्त पाण्डित्य क्षणभर में नष्ट हो गया।

अरे रे! पर्याय की ऐसी क्षणभंगुरता!! कहाँ तो थोड़ समय पूर्व पाण्डित्य से परिपूर्ण राजा यम की दशा और कहाँ क्षणभर में बुद्धिविहीन परिस्थिति!! **अहो! इस परिवर्तनशील पर्याय के चक्रव्यूह से पार त्रिकाली ध्रुवतत्त्व ही विश्वसनीय है, प्रति क्षण बदलनेवाली पर्याय नहीं।**

राजा को अपनी इस दीन-हीनदशा देखकर अत्यन्त आश्चर्ययुक्त खेद हुआ। उसने मन ही मन अपने दुष्कृत्य की निन्दा करते हुए मुनिराज सुधर्माचार्य की तीन प्रदक्षिणा दीं और अत्यन्त विनयपूर्वक नमस्कार करके धर्मोपदेश श्रवण की इच्छा से टकटकी लगाकर मुनिराज की देखने लगा। मुनिराज ने भी अकारण करुणा बरसाते हुए अपने दिव्योपदेश में कहा –

अहाहा! सारी दुनिया का विस्मरण हो जाए – ऐसा तेरा परमात्मतत्त्व है। अरे रे! तीन लोक का नाथ होकर राग में

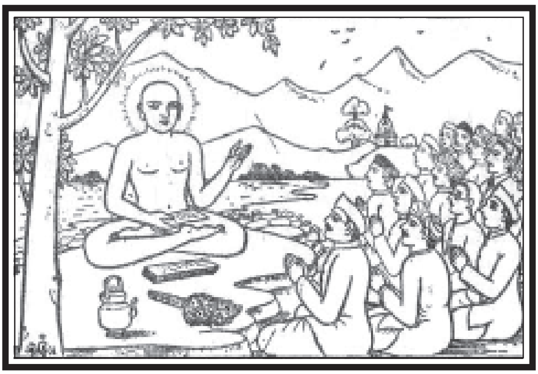

मैला हो गया! राग में तो दुःख की ज्वाला जलती है, वहाँ से दृष्टि को हटा ले और जहाँ सुख का सागर भरा है, वहाँ अपनी दृष्टि को लगा दे। राग को तू भूल जा। तेरे परमात्मतत्त्व को पर्याय स्वीकारती है, परन्तु उस पर्यायरूप मैं हूँ – यह भी भूल जा। अविनाशी भगवान के समक्ष क्षणिक पर्याय का क्या मूल्य? पर्याय को भूलने की बात है, वहाँ राग और शरीर की बात कहाँ रही? अहाहा! एक बार तो मुर्दे भी खड़े हो जाएँ – ऐसी यह बात है, अर्थात् सुनते ही उछलकर अन्तर में जाए – ऐसी बात है।

मुनिराज के मुखरूपी चन्द्रमा से झरते उपदेशामृत का पान

करके राजा यम तृप्त हुआ। उसे बहुत कुछ शान्ति प्राप्त हुई। अपनी पर्याय की क्षणभर में बदली हुई अवस्था के विचार से उसे वैराग्य जागृत हुआ और वह अपने पुत्र गर्धभ को राज देकर पाँच सौ पुत्रों सहित भगवती जिनदीक्षा अङ्गीकार करके आत्मसाधना करने लगा।

★ ★ ★

भगवान महावीर के मुख्य गणधर गौतमस्वामी ने एक मुहूर्त में द्वादशांग का अवधारण कर सुधर्माचार्य को सम्पूर्ण द्वादशांग का उपदेश प्रदान किया। जब ईस्वी पूर्व 515 में इन्द्रभूति गौतमस्वामी का निर्वाण हुआ, उसी दिन सुधर्मस्वामी को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई थी। सुधर्मस्वामी, भगवान महावीर के पाँचवें गणधर थे। उन्होंने गणधर अवस्था में रहकर अपने आत्मविकास के साथ-साथ श्रमणसंघ का सञ्चालन किया। इनका निर्वाण विपुलाचर पर वीर निर्वाण संवत् 24 ईसा पूर्व 503 में हुआ। ●

[धवला टीका में सुधर्मस्वामी का अपर नाम लोहाचार्य का उल्लेख प्राप्त होता है। मुनि पद्मनन्दि ने भी जम्बूद्वीपपण्णत्ती में सुधर्मस्वामी का नाम स्पष्टरूप से लोहाचार्य बतलाया है। अतः सुधर्मस्वामी का अपरनाम लोहाचार्य भी निश्चित है।]

– देवेन्द्रकुमार जैन

4

श्वेतवाहन मुनिराज की कथा

देखो, परिणामों की विचित्रता!

बहुत समय पूर्व चम्पा नगरी में राजा श्वेतवाहन राज्य करता था। एक बार भगवान महावीर का उपदेश सुनकर उसक हृदय वैराग्य से भर गया, इस कारण उसने अपने पुत्र विमलवाहन को राज्य का भार सौंपकर, अनेक राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया। बहुत समय तक मुनियों के समूह के साथ रहकर अखण्ड संयम को साधते-साधते जब वे मुनिराज एक वृक्ष के नीचे विराजमान थे, उसी समय राजा श्रेणिक, भगवान महावीर के दर्शन करने जा रहे थे। रास्ते में एक वृक्ष के नीचे श्वेतवाहन मुनि को ध्यानस्थ देखकर राजा श्रेणिक ने उन्हें नमस्कार किया किन्तु नमस्कार करते हुए उनकी मुखमुद्रा विकृत दिखायी दी।

राजा श्रेणिक ने समवसरण में पहुँचकर गणधर भगवान से उसका कारण पूछा। उत्तर में गणधर प्रभु ने कहा – 'हे श्रेणिक, सुन! आज वे मुनिराज श्वेतवाहन एक माह के उपवास के बाद आहारचर्या के लिए नगर में गये थे, वहाँ तीन मनुष्य मिलकर उनके पास आये। उनमें से एक मनुष्य, मनुष्यों के लक्षण जाननेवाला था, उसने इन मुनिराज को देखकर कहा कि इसके लक्षण तो

साम्राज्य पदवी के कारण है परन्तु यह तो भिक्षा के लिए भटक रहा है; इसलिए जो शास्त्र में कहा है, वह मिथ्या प्रतीत होता है।

उसके उत्तर में दूसरे मनुष्य ने कहा – भाई! शास्त्र में जो कहा है, वह मिथ्या नहीं है, ये मुनिराज तो साम्राज्य का त्याग करके ही मुनि हुए हैं। किसी कारण से विरक्त होकर इन्होंने राज्य का भार छोटे-से बालक पर डाल दिया है और स्वयं तपश्चरण कर रहे हैं।

यह सुनकर तीसरा मनुष्य बोला – तब तो इसका तप, पाप कारण है। इससे क्या लाभ है? यह बड़ा दुष्ट है; इस कारण दया छोड़कर, लोकव्यवहार से अनभिज्ञ असमर्थ बालक को राज्यभार सौंपकर केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये यहाँ तप कर रहा है और उधर इसके मन्त्री आदि सभी लोगों ने बालक को साँकल से बाँधकर राज्य का विभाग कर लिया है। अब वे पापी लोग अपनी इच्छानुसार स्वयं राज्य का उपभोग कर रहे हैं।

इस प्रकार तीसरे मनुष्य के वचन सुनकर, मुनिराज श्वेतवाहन, स्नेह और मान के कारण भोजन किये बिना ही नगर से वापिस वन में आकर वृक्ष के नीचे जा बैठे हैं। बाह्य कारण और अपनी योग्यता से उनके हृदय में तीव्र क्रोधकषाय उत्पन्न हुई है, संक्लेशपरिणामों से अशुभलेश्या वृद्धिङ्गत हुई है। जो मन्त्री आदि प्रतिकूल हुए हैं, उन्हें हिंसा आदि सर्व प्रकार से निग्रह करने का चिन्तन करने से वे मुनिराज इस समय संरक्षानामक रौद्रध्यान में दाखिल हुए हैं। यदि अब आगे अन्तर्मुहूर्त तक उनकी यही स्थिति रही तो वे नरकायु का बन्धन करने योग्य हो जाएँगे। अतः हे श्रेणिक! तू शीघ्र जाकर उन्हें सम्बोधित कर कि हे साधु! शीघ्र ही इस अशुभध्यान

का परित्याग करके, क्रोधरूप अग्नि को शान्त करो! मोह की जाल को दूर करो! तुमने जो यह मोक्ष के कारणरूप संयम को धारण करके छोड़ा है, उसे वापिस अङ्गीकार करो। यह स्त्री, पुत्र तथा भाई आदि का सम्बन्ध तो अमनोज्ञ और संसार को बढ़ानेवाला है। इस प्रकार युक्तिपूर्ण सम्बोधन से तुम मुनिराज का स्थितिकरण करो। तुम्हारे उपदेश से वे पुनः स्वरूप में स्थिर होकर शुक्लध्यानरूप अग्नि से घातिकर्मरूपी सघन वन को भस्म कर देंगे और केवलज्ञान आदि लब्धियों से देदीप्यमान शुद्धस्वभाव के धारक हो जाएँगे।'

गणधर महाराज के ऐसे वचन सुनकर, राजा श्रेणिक शीघ्र ही उन मुनिराज के समीप गये और गणधर महाराज द्वारा बताये मार्ग से उन्हें प्रसन्न किया। उन मुनिराज ने भी तुरन्त समस्त सङ्कल्प –विकल्पों का परित्याग करके, क्षपकश्रेणी आरोहण कर शुक्लध्यान के प्रभाव से केवलज्ञान प्राप्त किया।

देखो! परिणामों की कैसी विचित्र योग्यता है कि थोड़ी देर पहले सातवें नरक के योग्य परिणाम; और थोड़ी देर पश्चात् केवलज्ञान! इसलिए इन परिवर्तनशील अध्रुव परिणामों का व्यामोह तजकर, अपरिवर्तनशील त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकस्वभाव का ही अवलम्बन करना चाहिए।

(– उत्तरपुराण के आधार पर)

5

छोटी-सी प्रतिज्ञा का महान फल

एक बार राजा श्रेणिक की राजधानी राजगृही में तीर्थङ्कर परमात्मा महावीर प्रभु पधारे। वनमाली से प्रभु के शुभागमन के समाचार ज्ञात कर राजा श्रेणिक परिजनों एवं प्रजाजनों के साथ महावीर प्रभु के दर्शनार्थ समवसरण में गये। उन्होंने भक्तिपूर्वक प्रभु की भक्ति-अर्चना की और धर्मामृत का पान किया। तत्पश्चात् राजा श्रेणिक ने गौतमस्वामी से अत्यन्त विनम्रतापूर्वक कहा –

'हे देव! मुझे अपने पूर्व भव की कथा जानने की अभिलाषा है।'

गौतम स्वामी ने अपने दिव्यज्ञान के द्वारा जानकर कहा –

''हे श्रेणिक! सुनो! दो भव पूर्व तुम भीलराज थे, उस समय तुमने माँस-त्याग की एक प्रतिज्ञा ली थी, उसके फलस्वरूप तुम स्वर्ग में देव होकर फिर यहाँ के राजा हुए हो।

पूर्वभव में तुम विन्ध्याचल में 'वादिरसार' नाम के भील थे, वहाँ तुम शिकार करते और माँस खाते थे। एक बार महाभाग्य से तुम्हें जैन मुनिराज के दर्शन हुए।''

मुनिराज ने अत्यन्त करुणापूर्वक कहा – 'हे भव्य! माँसाहार महापाप है, उसे तू छोड़ दे।'

तुमने भद्रभाव से कहा – 'प्रभो! माँस का तो हमारा व्यापार है, उसे मैं सर्वथा नहीं छोड़ सकता। फिर भी हे स्वामी! आपके बहुमानपूर्वक मैं कौए का माँस छोड़ता हूँ। भले ही प्राणान्त क्यों न हो जाए परन्तु मैं कौए का माँस कभी नहीं खाऊँगा।'

श्री मुनिराज ने उसे भव्य जानकर यह प्रतिज्ञा दे दी।

हे श्रेणिक! उसके बाद कुछ ही समय में ऐसी घटना घटित हुई कि उसी वादिरसार भील को महा भयङ्कर विचित्र रोग हुआ और औषधि द्वारा अनेक उपाय करने पर भी वह रोग दूर नहीं हुआ।

'औषधि के रूप में यदि कौए का माँस खाओगे तो रोग मिट जाएगा।' – ऐसा एक मूर्ख वैद्य ने कहा, किन्तु वादिरसार भील अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ रहा।

उसने कहा – 'मरण हो तो भले ही हो जाए परन्तु मैं कौए का माँस कभी नहीं खाऊँगा।'

वादिरसार के एक मित्र अभयकुमार के जीव ने यह बात सुनी और वह उसे समझाने के लिए वादिरसार के पास आ रहा था। इसी समय जब रास्ते में उसने एक यक्षदेवी को उदासचित्त बैठे देखा, तब उस मित्र ने उसकी उदासी का कारण पूछा?

यक्षदेवी (रानी चेलना के जीव) ने कहा – 'हे भाई! तुम अपने मित्र वादिरसार के पास जा रहे हो, उसे कौए के माँस का त्याग है लेकिन यदि तुम जाकर उसे दवा के रूप में कौए का माँस खाने के लिए कहोगे और कदाचित् वह प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होकर मरण से बचने के लिए कौए का माँस खायेगा तो मरकर नरक में जाएगा; अतः उसकी दशा का विचार करके मैं दुःखी हूँ।'

उस समय उसे आश्वासन देकर, वह कुशल मित्र, वादिरसार भील के पास आया और उसकी परीक्षा लेने के लिए कहा –

'हे मित्र ! कौए का माँस खाओगे तो तुम्हारा रोग मिट जाएगा; दूसरी कोई दवा उपयोगी नहीं है।' जब वह नहीं माना, तब उसने और भी दृढ़ता के साथ कहा – 'भाई ! हठ छोड़ दो, व्यर्थ ही मरण हो जाएगा। एक बार औषधि के रूप में कौए का माँस खा लो; अच्छे हो जाने पर फिर व्रत ले लेना।'

तब भील ने मित्र को समझाते हुए कहा – 'भाई ! मैंने अपने जीवन में कोई सत्कार्य नहीं किया; जैसे-तैसे एक छोटा-सा व्रत लिया है और मैं ऐसा मूर्ख नहीं हूँ कि उसे भी छोड़ दूँ। जिसे धर्म से किञ्चित् भी स्नेह होगा, वह मरण अवस्था में भी व्रत को नहीं छोड़ेगा।'

इस प्रकार वह अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ रहा। उसकी दृढ़ता देखकर उसका मित्र प्रसन्न हुआ और रास्ते में यक्षदेवी के साथ हुई सब बात उसने वादिरसार को बताई कि तुम्हारी इस प्रतिज्ञा के कारण तुम देवपर्याय प्राप्त करोगे।

'हे श्रेणिक ! उस समय मात्र कौए का माँस छोड़ने का भी ऐसा महान फल जानकर, उस भील राजा को उन जैन मुनिराज पर दृढ़ श्रद्धा हो गयी और अहिंसा धर्म का उत्साह बढ़ा, जिससे जैनधर्म के स्वीकारपूर्वक उसने माँसादि का सर्वथा त्याग करके अहिंसादि पाँच अणुव्रत धारण किये और पञ्च परमेष्ठी की भक्तिपूर्वक शान्ति से प्राणत्याग कर, व्रत के प्रभाव से उसका आत्मा सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ।'

गौतमस्वामी आगे कहते हैं – 'हे श्रेणिक! वह भील तुम ही हो। उस देवपर्याय से च्युत होकर तुम इस राजगृही में श्रेणिक राजा हुए हो और एक भव के बाद तीर्थङ्कर बनोगे।'

भील के व्रतों का ऐसा उत्तम फल देखकर उसके मित्र ने भी अणुव्रत धारण किये और वह मित्र भी वहाँ से मरकर ब्राह्मण का अवतार लेकर, अर्हत्‌दास सेठ होकर जैन संस्कार प्राप्त करके स्वर्ग गया और वहाँ से मरकर तुम्हारा पुत्र अभयकुमार हुआ है, वह तो इसी भव में जैनमुनि होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

श्रेणिक ने पूछा – 'हे स्वामी! उस यक्षदेवी का क्या हुआ?'

गौतमस्वामी ने कहा – 'हे राजन्! वह यक्षदेवी उसके बाद कितने ही भव धारण करके अनुक्रम से वैशाली के चेटक राजा की पुत्री चेलना हुई, जो अभी तुम्हारी पटरानी है।'

अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुनकर राजा श्रेणिक को यथार्थ बोध हुआ। उसने तीर्थङ्कर प्रभु के समीप विशेष आत्मशुद्धिपूर्वक क्षायिकसम्यक्त्व प्रगट किया; इतना ही नहीं, धर्म की उत्तम भावना के द्वारा उन्होंने तीर्थङ्करनामकर्म बाँधना भी शुरु कर दिया और भगवान महावीर के 84000 वर्ष बाद वे इस भरतक्षेत्र में महापद्म नामक प्रथम तीर्थङ्कर होंगे।

श्री गौतम गणधर के श्रीमुख से अपने भूतकाल के भवों का वर्णन सुनकर, श्रेणिक राजा वैराग्यपूर्वक अपने भविष्य के भवों के बारे में भी उनसे पूछते हैं। तब गौतमस्वामी कहते हैं –

'हे श्रेणिक! पहले अज्ञानदशा में मिथ्यात्वादि पापों के सेवन से और जैनमुनि यशोधर पर उपसर्ग करने से जो पाप तुमने बाँधे

थे, उससे तुम पहले नरक में जाओगे लेकिन कभी भी अपने आत्मा को विस्मृत नहीं करोगे और सोलहकारणभावना भाते हुए दूसरे भव में तुम इस भरतक्षेत्र में महापद्म नामक त्रिलोकपूज्य प्रथम तीर्थङ्कर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे।'

अन्त में समस्त श्रोताओं का सम्बोधित करते हुए गौतम गणधर ने कहा –

'अहो! एक ही जीव, एक ही भव में एक बार में नरकगमन के योग्य कर्म बाँधता है और फिर उसी भव में तीर्थङ्करनामकर्म प्रकृति बाँधता है। देखो तो सही, जीव की परिणति की विचित्रता।'

★ ★ ★

प्रिय पाठकों! इस प्रकार क्षायिकसम्यग्दृष्टि राजा श्रेणिक ने अपने बारे में एक साथ दो बातें सुनी – 1. आगामी भव में नरक जाना और 2. उसके बाद के भव में तीर्थङ्कर बनना।– ये दोनों बातें एक साथ सुनकर उन्हें कैसा लग रहा होगा? प्रसन्नता हुई होगी या खेद हुआ होगा? अरे! कहाँ हजारों वर्ष तक नरक के घोरातिघोर अत्यन्त दुःख की वेदना! और कहाँ त्रिलोकपूज्य तीर्थङ्करपदवी!

अहो! कैसा विचित्र संयोग है। एक ओर नरकगति का खेद तो दूसरी ओर तीर्थङ्करपद का हर्ष! किन्तु हे भव्यजीवों! तुम श्रेणिक में ऐसा हर्ष या खेद ही नहीं देखना; इन दोनों के अलावा एक तीसरी अत्यन्त सुन्दर वस्तु भी उसी समय श्रेणिक राजा में वर्त रही है, उसे तुम देखना, तभी तुम धर्मात्मा श्रेणिक को समझोगे, वरना तुम श्रेणिक के प्रति अन्याय करोगे।

क्या है तीसरी वस्तु? वह है ज्ञानचेतना, जो हर्ष–शोक दोनों

से सर्वथा अलिप्त, परमशान्त वर्त रही है। यह ज्ञानचेतना न तो नरक के कष्टों को वेदती है और न ही तीर्थङ्करप्रकृति के कर्म को वेदती है – दोनों कर्मों से भिन्न नैष्कर्म्यभाव से कर्मों से छूटकर परम शान्ति से मोक्षपन्थ को साध रही है। यह है श्रेणिक का सच्चा स्वरूप! उसे समझना चाहिए। तभी राजा श्रेणिक की नरकदशा या तीर्थङ्करदशा – दोनों को सुनकर तुम भी राग–द्वेष से भिन्न शान्त–ज्ञानचेतनारूप में रह सकोगे और मोक्षपन्थ की साधना कर सकोगे।

इस कथा से हमें यह बोध प्राप्त होता है कि –

'अरे भव्य जीवो! जिस वीतरागता और अहिंसा का उपदेश जैनधर्म देता है, उसका थोड़ा–सा पालन करने से ही जब ऐसा महान फल प्राप्त होता है तो सम्पूर्ण वीतरागभावरूप अहिंसा का फल कितना महान होगा? – उसे समझना चाहिए। अत: हे बन्धुओ! शूरवीर होकर वीर भगवान के अहिंसा धर्म का पालन करना, उसे पालन करने में कायर मत होना। हमें भी जैनधर्म की वीतरागता के उत्तम संस्कार आत्मा में विकसित करना चाहिए, जिससे राजा श्रेणिक के समान हमारा भी महान कल्याण हो।

अहो! यह है विचित्र संसार के बीच भी अलिप्त ज्ञानचेतना राजा श्रेणिक की।

हर्ष–खेद से पार है, सुन्दर ज्ञानस्वभाव।
उस स्वभाव को साधकर, मोक्षदशा प्रगटाव॥'

(– ब्रह्मचारी हरिलाल जैन)

6

मानप्रतिष्ठा से लोभ से मुनि होनेवाले सूर्यमित्र

निधान मिल गया

राजगृही नगर का राज सुबलराज बहुत मूल्यवान रत्नों से जड़ित अँगुठी पहिनता था। एक बार जब राजा स्नान से पूर्व तेलमर्दन के लिए तैयार हुआ, तब रत्नों की आभा खराब न होने के हेतु से उसने अँगुठी निकालकर अपने राजपुरोहित सूर्यमित्र को सम्हला दी। सूर्यमित्र पुरोहित ने वह अँगुठी अपनी अँगुली में पहिन ली और अपने घर चला गया। घर पहुँचकर उसने सन्ध्यातर्पण आदि ब्राह्मणकर्म करके राज्य दरबार में जाने की तैयारी की तो अँगुठी को अँगुली में नहीं देखकर अत्यन्त उदास हो गया। उसने परमबोध नामक निमित्तज्ञानी से पूछा कि मेरी अँगुली में से जो सोने की अँगुठी गिर गयी है, वह मिलेगी या नहीं ?

निमित्तज्ञानी ने जवाब दिया – 'मिल जाएगी, आप चिन्ता नहीं करें।'

पुरोहित ने उसे विदा तो कर दिया, परन्तु उसकी चिन्ता कम नहीं हुई। उसे तो उसी समय राजा की अँगुठी देनी थी। वह चिन्ता से व्याकुल होकर अपने महल के ऊपरी भाग में गया।

उसने शहर के बाहर उपवन में भव्य जीवों को सम्बोधनेवाले, तीन लोक के देवों द्वारा पूज्यनीय चरणवाले, मति –श्रुत–अवधिज्ञान को धारण करनेवाले, जगत का हित करनेवाले, जगत वन्दित, जगत श्रेष्ठ, जगत से स्तुति योग्य सुधर्म नाम के जैनमुनि आचार्य को देखा। उन आचार्य को देखकर पुरोहित ने विचार किया कि ये महाज्ञानवान साधु हैं, अतः अवश्य मेरी अँगुठी के सम्बन्ध में जानते होंगे; इसलिए इनसे एकान्त में पूछना चाहिए।

इस प्रकार विचार करके वह सूर्यास्त से कुछ समय पूर्व अँगुठी का पता लगाने के लिए आचार्य संघ के समीप गया। ज्ञानऋद्धि आदि गुणों के सागर, अपने शरीर से भी निस्पृह, मोक्षसिद्धि की इच्छावाले योगी को देखकर भी लज्जा और अभिमान के कारण अपना प्रश्न पूछने में असमर्थ हुआ, तथापि अपने कार्य की सिद्धि के लिए मुनिराज के आस–पास चक्कर लगाने लगा।

अवधिज्ञान के योग से उसे निकट भव्य जानकर परमोपकारी सुधर्माचार्य ने उससे कहा – 'हे सूर्यमित्र! राजा की अँगुठी गुम हो जाने से चिन्तित होकर तू यहाँ मेरे पास अपनी चिन्ता मिटाने आया है न?'

सूर्यमित्र पुरोहित अपनी मानसिक चिन्ता और सम्पूर्ण बात सुनकर अत्यन्त आश्चर्यचकित हुआ। उसने योगीराज से कहा – 'हाँ'। सूर्यमित्र ने मुनिराज को नमस्कार करके पूछा – 'हे स्वामी! वह अँगूठी कहाँ पड़ी है?'

तीन ज्ञानरूपी नेत्रवाले योगीराज ने उत्तर दिया – 'विद्वान! अपने महल के पीछे बगीचेवाले सरोवर में जब तू सूर्य को अर्घ्य

दे रहा था, तब तेरे हाथ की अँगुली में से निकलकर वह अँगुठी सरोवर के कमल की कनी में पड़कर अदृश्य हो गयी है। तू चिन्ता मत कर, वह अभी तक वहीं पड़ी है, इसलिए तू अँगुठी की चिन्ता का परित्याग कर दे और मेरे वचनों में विश्वास रख।'

विद्वान पुरोहित ने मुनिराज के वचन सुनकर तालाब में जाकर देखा तो उसने अँगुठी को वहीं पाया। वह अँगुठी लेकर उसने राजा को दे दी। वह अपने हृदय में महान आश्चर्यपूर्वक विचार करने लगा कि ये साधु तो समस्त ज्ञानियों में श्रेष्ठ, सम्पूर्ण विश्व को प्रत्यक्ष जाननेवाले अनुपमज्ञानी हैं। ऐसा निमित्तज्ञान समस्त ही निमित्तज्ञानों में सारभूत है, इसलिए इन योगीराज की आराधना करके, यह अद्भुत ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। इसके प्राप्त होने पर सत्पुरुष विद्वानों में मेरी महान प्रसिद्धि होगी, मान्यता बढ़ेगी, ऐश्वर्य बढ़ेगा और उत्तम पद भी प्राप्त होगा। इस प्रकार वह धन आदि के लोभ से गुरु के पास विद्या सीखने गया।

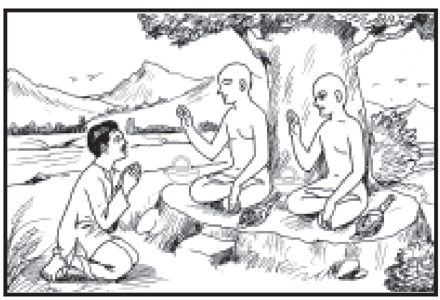

उसने उन योगियों के स्वामी को नमस्कार कर हाथ जोड़कर करके प्रार्थना करते हुए कहा – 'हे भगवान! मुझ पर दया करके समस्त पदार्थों को दिखलानेवाली यह अपूर्व विद्या मुझे भी प्रदान करने की कृपा करें, कारण कि आप कृपानाथ हैं।'

यह सुनकर ज्ञानी मुनिराज ने कहा – 'हे भव्योत्तम! यह

उत्कृष्ट विद्या निर्ग्रन्थ (निःपरिग्रह) नग्न दिगम्बर ज्ञानी के अतिरिक्त किसी को भी प्राप्त नहीं होती। अतः यदि तुझे यह विद्या सीखनी हो तो तू भी मेरे समान निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो जा।'

विद्वान ब्राह्मण, योगीराज की बात सुनकर घर गया। उसने परिवार के समस्त सदस्यों को बुलाकर दिगम्बर मुनिवेष धारण करने का विचार प्रगट किया और कहा कि 'इन योगिराज के पास बहुत ही अद्‌भुत विद्या है, जो निर्ग्रन्थ दिगम्बर वेष धारण करनेवालों के अतिरिक्त वे अन्य किसी को नहीं देते; इस कारण उस विद्या की सिद्धि के लिए मैं निर्ग्रन्थ दिगम्बर होने जा रहा हूँ। मैं किसी भी उचित युक्ति से वह विद्या सीख लूँगा और अपना कार्य पूरा करके वापस आ जाऊँगा। तुम मेरे इस वियोग से जरा भी शोक मत करना।'

उसकी बात सुनकर परिवारजनों ने उसे निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर विद्या सीखने के लिए सहमति दे दी।

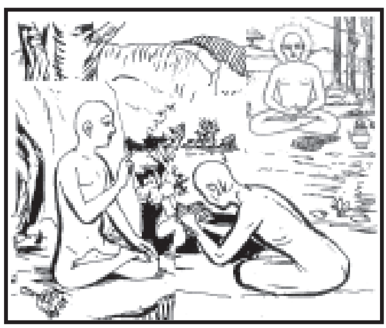

इस प्रकार वह सूर्यमित्र ब्राह्मण, विद्या प्राप्त करने के लिए उन मुनिराज के पास जाकर नमस्कार करके बोला – 'हे भगवन्। मैंने स्वार्थ सिद्धि के लिए यह निर्ग्रन्थ दिगम्बर वेष धारण किया है, इसलिए आप मुझे शीघ्र ही वह विद्या प्रदान करें।'

भविष्य में होनेवाली घटनाओं को प्रत्यक्ष जाननेवाले मुनिराज ने भी उसे बाह्य परिग्रह से छुड़ाकर स्वर्ग–मोक्ष की लक्ष्मी को

वशीभूत करनेवाले सारभूत मूलगुण देकर तीन लोक में कल्याण करनेवाली, जगत में वन्दनीय जैन दीक्षा प्रदान कर दी।

विद्वान ब्राह्मण सूर्यमित्र ने मुनि को नमस्कार करके प्रार्थना की – 'हे भगवान! अब दया करके मुझे वह विद्या प्रदान करें।'

तब मुनिराज ने कहा – 'विद्वान! क्रियाकलाप के पाठ और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी तप के बिना वह विद्या सिद्ध नहीं होती; मात्र नग्न होने से ही विद्या थोड़े ही सिद्ध होती है!'

मुनिराज के वचन सुनकर उस विद्वान ब्राह्मण ने अतिशय उद्यम से बुद्धि लगाकर गुरु से चारों अनुयोगों को सीखना प्रारम्भ किया। उसने त्रेसठ शलाका पुरुषों के भवादिक शुभ सामग्री, आयु, वैभव, आदि का सूचक, पुण्य-पाप का फल प्रगट करनेवाला, धर्म का कारण प्रथमानुयोग सीखा। लोक-अलोक विभाग, उसका संस्थान, सात नरकों का दुःख, स्वर्ग आदि का सुख, संसार की स्थिति का दीपक – ऐसा करणानुयोग भी सीखा। मुनिराज और गृहस्थों का आचरण – महाव्रत, अणुव्रत, शीलव्रत और उनके फलादि को बतानेवाला चरणानुयोग भी योगीराज ने उसे सिखाया और छह द्रव्य, सात तत्त्व, पाँच मिथ्यात्व, सत्य-असत्य मतों की परीक्षा, प्रमाण-नय आदि को बतानेवाला द्रव्यानुयोग भी उसने सीखा।

द्रव्यानुयोग के शास्त्रों को पढ़कर वह विद्वान सूर्यमित्र, सम्यग्दृष्टि हो गया। उसके अन्तरङ्ग में हेयोपादेय का ज्ञान प्रगट हो गया। उसने धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ तथा जैनधर्म व अन्य धर्मों का भेद अपने निर्मल चित्त से अच्छी तरह जानकर विचार

किया कि अहो! जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित जैनधर्म ही सत्य और महान है, स्वर्ग–मोक्ष प्रदाता है। जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य सभी मत, स्वार्थी लोगों के द्वारा बनाये गये हैं। वे सब मुझे जहर के समान भासित होते हैं। जिनदेव द्वारा प्रणीत सम्पूर्ण जीव आदि पदार्थों का स्वरूप महान सत्य है और सम्यग्दर्शन–ज्ञान के लिए कारणभूत है।

मैंने अब तक कुमार्गगामियों द्वारा असत्य–अशुभ कुतत्त्वों को सीखने में ही व्यर्थ समय गँवाया है, इसका मुझे खेद होता है। मति और श्रुत ये दो ही ऐसे परोक्षज्ञान हैं कि जिनके द्वारा समस्त चराचर का ज्ञान होता है। अवधिज्ञान के द्वारा जगत के रूपी पदार्थ और भवान्तर प्रत्यक्ष दिखते हैं। सूक्ष्म पदार्थों को दिखानेवाला मनःपर्ययज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान है। वह ज्ञान, तप द्वारा योगीश्वरों को ही प्राप्त होता है। घातिकर्मों के नाश से उत्पन्न होनेवाला, आत्मा में उत्पन्न, तीन लोक को देखने में दीप के समान, विश्व का प्रत्यक्ष दर्शक केवलज्ञान है। इन जगत प्रकाशक पाँच प्रकार के ज्ञानों को, कोई भी विद्वान किसी को नहीं दे सकता। ये ज्ञान तो श्रेष्ठ योगीश्वरों को ज्ञानावरण के क्षयोपशम अथवा क्षय से अपने आप ही होते हैं।

अहा! मैंने अपने हित के लिए बहुत ही उत्तम कार्य किया है कि जो ज्ञान के लोभ से संयम धारण कर लिया। जैसे जङ्गल में कन्दमूल खोजनेवाला दरिद्री महान हीरे–मोती से भरा निधान प्राप्त कर ले; उसी तरह मुझ प्रसिद्धि के लोभी को यह निर्ग्रन्थ जैन दिगम्बर दीक्षारूपी अपूर्व निधान मिल गया है।

इन योगीराज ने भी मेरे हित के लिए ही जगत का कल्याण

करनेवाली यह दीक्षा मुझे प्रदान की है और मैं भी ज्ञान की आशा से इस जिनदीक्षा को प्राप्त करके आज कृतकृत्य होकर सत्यार्थ मोक्षमार्ग का आराधक हुआ हूँ। मैं पाप से दूर होकर पवित्र बना और तीन जगत् में पूज्य हुआ हूँ। मैंने महान भाग्योदय से यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी बोधि प्राप्त की है, जो कि जैनशासन में ही प्राप्त हो सकती है। उत्तम भोग और मुक्ति का प्रदाता यह निर्दोष जैनधर्म ही है। यह सम्यक् रत्नत्रयरूपी मुनिपद ही गुण की खान और जगत का स्वामी है, जिसको मैंने काललब्धि से प्राप्त किया है। ये निर्ग्रन्थ गुरु ही इस संसार में तारण-तरण हैं।

मैंने मिथ्यामार्ग में रहकर स्नान, तर्पण आदि द्वारा संक्लेशरूप खोटे परिणाम करके इतना समय व्यर्थ ही गँवाया है। जैनधर्म से भिन्न रहनेवाले यह मिथ्यादृष्टि, स्वहित में अजान-मूर्ख हैं, वे कुमार्ग में रहकर व्यर्थ ही दुर्भाग्य से धर्म के लिए प्रयत्न करते हैं। मैं तो महा भाग्यशाली हूँ कि मोक्षमार्ग का पथिक बनकर जगत में सार और सत्य जिनमार्ग को ग्रहण किया। **जैसे, ज्योतिष मण्डल में सूर्य; धातुओं में सुवर्ण; पत्थरों में चिन्तामणि रत्न; वृक्षों में कल्पवृक्ष; स्त्रियों में शीलवन्ती नारी; धनिकों में दानी; तपस्वियों में विद्वान, सदाचारी और जितेन्द्रिय तपस्वी ही उत्तम है; उसी प्रकार संसार में जितने भी धर्म कहे जाते हैं, उनमें जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत जैनधर्म ही महान और सेवन योग्य, उत्तम है। जैसे, गाय के सींगों को दुहने से दूध नहीं मिलता; सर्प के मुख से कभी अमृत नहीं निकलता; अनाचार से कीर्ति नहीं मिलती और अभिमान से महानता प्राप्त नहीं होती; उसी प्रकार कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र-कुधर्म और**

कुमार्ग से कभी भी श्रेष्ठ कल्याण की प्राप्ति नहीं होती।

❖ ❖ ❖

एक बार यह सूर्यमित्र मुनिराज अपने गुरु के साथ नगर, वन आदि में विहार करते-करते चम्पापुर आये। यह नगरी वासूपूज्य भगवान की निर्वाणभूमि है। इसकी स्तुति, वन्दना और प्रदक्षिणा तथा नमस्कार करके, आचार्य महाराज के साथ निर्वाण-भक्ति का पाठ किया। वासूपूज्य स्वामी के गुणों का समूह और निर्वाण लाभ की भावना से सूर्यमित्र महामुनि की आत्मा के परिणामों में जो विशुद्धि आयी, इससे अज्ञान अन्धकार को नष्ट करनेवाला, तीन लोक के पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला उत्तम अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। वस्तुतः जो निस्पृह होते हैं, उन्हें ही समस्त अभिष्ट ऋद्धियाँ तपश्चर्या के प्रभाव से स्वयं ही प्रगट होती हैं।

श्री सुधर्माचार्य ने इन सूर्यमित्र मुनिराज को ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न, गुणों का सागर, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् -चारित्र से विशुद्ध आत्मावाले, संघ का भार उठाने में समर्थ, महान तपस्वी, महान तेजस्वी, महान ध्यानी, महान व्रती, महान जितेन्द्रिय, महान शीलयुक्त, महान योगी, महान हृदयवाले, संसार का हित चाहनेवाले, जगत को सुखी करने में निस्पृह और समस्त शिष्यों में गुणों से महान हैं – ऐसा जानकर, सम्पूर्ण संघ की साक्षीपूर्वक आचार्य पद दे दिया। अब श्री सुधर्माचार्य स्वामी आचार्यपद के जञ्जाल से मुक्त होकर घोरातिघोर तपश्चर्या करके मोक्ष पधारे। काललब्धि पाकर आचार्य सूर्यमित्र भी मोक्षधाम पधारे। इस प्रकार यह जिनधर्म और जिनदीक्षा को पाकर वे योगीराज तृप्त-तृप्त हो गये। ●●

(– सुकुमाल चरित्र में से सार-संक्षेप)

7

राजा दण्डक की कथा

वनवास के समय राजा दशरथ के पुत्र श्रीराम, अपने लघु भ्राता लक्ष्मण और सहधर्मिणी सीता के साथ दक्षिण दिशा के सुभद्र की ओर चले। कैसे हैं दोनों भाई ? परम सुख के भोक्ता हैं। उन्होंने नगर, गाँवों से भरे हुए अनेक देशों को लाँघकर वन में प्रवेश किया। ऐसा स्थान देखकर दोनों कहने लगे – 'अहो! यह सुन्दर वन! यह सुन्दर नदी!' – ऐसा कहकर वृक्षों की रमणीय छाया में सीतासहित बैठ गये। थोड़ी देर वहाँ बैठकर, वहाँ के रमणीय स्थान देखकर जलक्रीड़ा करने लगे। तत्पश्चात् रसोई के साधनरूप मिट्टी के बर्तन बनाये। सीता ने वन के धान्य से सुगन्धित आहार तैयार किया, अनेक मीठे पके हुए फलों का भोजन बनाया। भोजन के समय दोनों वीर, मुनिराज के आगमन की अभिलाषा से बाहर पड़गाहन करने के लिए खड़े हो गये।

उस समय दो चारणमुनि पधारे, जिनके नाम सुगुप्ति और गुप्ति थे। उनका शरीर ज्योतिपटल से संयुक्त था। दोनों ने उनके दर्शन किये। वे मुनि मति, श्रुत, अवधिज्ञान के धारी थे। महाव्रत के धारक परम तपस्वी, किसी भी वस्तु की अभिलाषा से रहित, निर्मल मनवाले, मासोपवासी अत्यन्त धीर-वीर शुभचेष्टा के धारक,

भत्यों को आनन्द प्रदाता, शास्त्रोक्त आचार संयुक्त ऐसे वे मुनिराज आहार के लिए पधारे।

सीता ने दूर से उनको देखा। अत्यन्त हर्षपूर्वक पुलकित आँखों और रोमाञ्चित शरीर से वह अपने पति से कहने लगी – 'हे नाथ! हे नरश्रेष्ठ! देखो, देखो! तप से बने दुर्बल शरीरवाले दिगम्बर कल्याणरूप चरण युगल पधारे हैं।'

राम ने कहा – 'हे प्रिये पण्डिते! धन्य है तुम्हारे भाग्य को! तुमने निर्ग्रन्थ युगल को देखा। अरे! इनके दर्शन से तो जन्म–जन्म के पाप मिटते हैं और भक्तिवन्त पुरुष का परम कल्याण होता है।'

राम के वचन सुनकर रोमाञ्चित होते हुए सीता कहने लगी – 'वे आये! वे आये!!'

उसी समय दोनों मुनिराजों पर राम की नजर पड़ी। वे मुनिराज जीवदया के पालक, ईयासमितिसहित, समाधानरूप मनवाले थे। श्रीराम ने सीतासहित उनके सन्मुख जाकर नमस्कार किया और अत्यन्त श्रद्धा–भक्तिसहित मुनियों का पड़गाहन करके आहारदान दिया। वन की गाय और भैसों का दूग्ध, पर्वत की द्राक्ष, नाना प्रकार की वन–धान्य, सुन्दर घी युक्त मिष्ठान्न इत्यादि से विधिपूर्वक मुनिराजों का पारणा कराया।

वे मुनि, भोजन की लोलुपता रहित निरन्तराय आहार करने लगे। जब राम–सीता ने भक्ति से आहारदान किया, तब पञ्चाश्चर्य हुए। जिस समय उन्होंने मुनियों को आहारदान दिया, उस समय वन में गीद्ध पक्षी वृक्ष पर बैठा हुआ था। अतिशयसंयुक्त मुनियों को देखकर उसे अपने पूर्व भव का ज्ञान हो गया। उसने जाना कि

'कुछ भव पूर्व मैं मनुष्य था। मैंने प्रमाद और अविवेक से अपना जन्म व्यर्थ गँवाया। मेरे महा पापकर्म के विचार से मैं अन्तर में जलता हूँ। अब, अपने दुःखों के निवारण के लिए इन साधुओं की शरण ग्रहण करुँ, क्योंकि ये सर्व सुख के दाता हैं।'

इस प्रकार पूर्व भव के स्मरण से पहले तो उसे बहुत शोक हुआ; फिर मुनिराजों के दर्शन से तत्काल अत्यन्त हर्षित होकर अपने दोनों पंख फैलाकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से अत्यन्त विनयपूर्वक वृक्ष के नीचे आ गिरा। पक्षी बहुत बड़ा होने से उसके गिरने की आवाज से सीता का चित्त व्याकुल हो गया। देखो, गीद्ध पक्षी मुनियों के चरणों में कहाँ से आकर पड़ा। उसने कठोर आवाज करके बहुत रोका परन्तु वह पक्षी मुनियों के चरण के प्रक्षालन में आकर पड़ा। चरणोदक के प्रभाव से क्षणभर में उसका शरीर रत्नों की राशि के समान नाना प्रकार के तेज से मण्डित हो गया। पैर तो सुवर्ण की प्रभा धरने लगे, दोनो पंख वैदूर्यमणि के समान हो गये। वह पक्षी अत्यन्त हर्षित हुआ और मधुर स्वर से नृत्य करने के लिए तैयार हो गया। जिसकी आवाज देवों की दुन्दुभी समान है, वह नेत्रों से आनन्दाश्रु बहाता हुआ शोभित होने लगा। जैसे, मेघ के आगमन से मोर नृत्य करते हैं, उसी तरह वह मुनियों के आगे नृत्य करने लगा।

महामुनि विधिपूर्वक पारणा करके वैदूर्यमणि के समान शिला पर विराजमान हो गये। पद्मरागमणि के समान हैं नेत्र जिसके – ऐसा वह पक्षी, पंखों को सञ्कुचित कर मुनियों के चरणों के समीप आगे आकर बैठ गया।

श्रीराम खिले हुए कमल के समान नेत्रों से पक्षी को प्रकाशरूप देखकर स्वयं ही अत्यन्त विस्मित हुए। उन्होंने मुनिराजों के चरणों में नमस्कार करके पूछा – 'हे भगवन! यह पक्षी पूर्व की अवस्था में अत्यन्त कुरुप था, वह क्षणभर में सुवर्ण और रत्नों की मूर्ति बन गया! अशुद्धरूप और माँस का भक्षण करनेवाला – यह गीद्ध पक्षी आपके चरणों के समीप बैठकर अत्यन्त शान्त हो गया, इसका क्या कारण है?'

❖ ❖ ❖

सुगुप्ति नामक मुनि ने कहा – 'हे राजन! पहले इस स्थान पर एक सुन्दर दण्डक नाम का देश था। यहाँ कुर्णकुण्डल नामक अति मनोहर नगर में इस पक्षी का जीव दण्डक राजा था। वह प्रतापी प्रचण्ड पराक्रमी, जिसने शत्रुरूपी काँटों को भङ्ग कर दिया था – ऐसा महामानी, विशाल सेना का स्वामी था। उस मूढ़ ने अधर्म को श्रद्धारूप मिथ्याशास्त्र का सेवन किया। जैसे, कोई घी की प्राप्ति के लिए पानी को बिलोता है – ऐसा वह प्रयत्न था। इसकी स्त्री दण्डी जाति के संन्यासी की भक्त थी। रानी को संन्यासी के प्रति बहुत अनुराग था। उसके सङ्ग से राजा भी उसी पथ का अनुगामी हो गया। **अरे... रे...! स्त्री के वश हुआ पुरुष क्या–क्या अकृत्य नहीं करता?**

एक दिन राजा दण्डक अपने नगर से बाहर निकला, तब उसने वन में कायोत्सर्ग करके ध्यान में बैठे हुए एक मुनि को देखा। उस निर्दय राजा ने मुनि के गले में एक मरा हुआ साँप डाल दिया। दण्डक राजा पाषाण के समान कठोर हृदयवाला था। उन मुनि ने ध्यान धरकर मौन रहकर ऐसी प्रतिज्ञा की कि जब तक मेरे

गले में से सर्प दूर नहीं होगा, तब तक में हलन-चलनरहित योगरूप ही रहूँगा। इस प्रकार कितने ही दिनों के बाद राजा उसी मार्ग से निकला, उस समय किसी भले मनुष्य ने सर्प को दूर किया और वह मुनि के पास बैठा था। राजा ने उससे पूछा – 'मुनि के गले से सर्प किसने निकाला?' तब उस मनुष्य ने उत्तर दिया – 'हे नरेन्द्र! किसी नरकगामी ने ध्यानारुढ़ मुनि के गले में मरा हुआ सर्प डाला था। उस सर्प के संयोग से साधु के शरीर में अनेक छिद्र हो गये थे, इन्होंने तो कोई उपाय किया नहीं; आज मैंने उस सर्प को दूर किया है।' तब राजा ने मुनि को शान्तस्वरूप कषायरहित जानकर प्रणाम किया। तभी से वह मुनिभक्ति का अनुरागी हो गया।

❖ ❖ ❖

जब रानी ने दण्डियों के मुख से यह वृतान्त सुना कि राजा जैनधर्म का अनुयायी हो गया है, तब उस पापिन ने क्रोधपूर्वक मुनिराज को मारने का उपाय किया। जो दुष्ट जीव होता है, वह अपने जीवन का प्रयत्न छोड़कर अन्य का अहित करता है। उस पापिन ने अपने गुरुओं से कहा कि तुम निर्ग्रन्थ मुनि का रूप धारण करके मेरे महल में आओ और विकार चेष्टा करो। रानी के कथनानुसार उन पापियों ने वैसा ही किया।

मुनियों का वेष धारण करके कपटी दण्डी साधुओं द्वारा की गयी विकारमय कुत्सित चेष्टा को भ्रम से मुनियों की चेष्टा जानकर, राजा दण्डक मुनियों के प्रति क्रोधित हो गया और उसके मन्त्री आदि दुष्ट मिथ्यादृष्टि, जो सदा मुनियों की निन्दा ही करते थे; उन्होंने राजा को भ्रमित किया; तब उस पापी राजा ने मुनियों को घानी में पीलने की आज्ञा दे दी और आचार्यसहित समस्त मुनियों

को घानी में पील दिया। एक मुनि बाहर गये हुए थे, वे वापस आ रहे थे। उन्हें देखकर किसी दयालु व्यक्ति ने कहा – 'हे प्रभो! पापी राजा ने अनेक मुनियों को घानी में पील दिया है; अतः आप वहाँ मत जाओ। आपका शरीर, धर्म का साधन है; अतः अपने शरीर की रक्षा करो।'

यह समाचार सुनकर मुनिसंघ के शोक से जिनको दुःखरूपी शीत का आघात लगा है – ऐसे वे मुनि थोड़ी देर तक तो वज्र के स्तम्भ के समान निश्चल हो गये; फिर असह्य दुःख से क्लेश को प्राप्त हुए। तत्पश्चात् उन मुनिरूप पर्व की समभावरूप गुफा में से क्रोधरूप केसरी सिंह निकला, लाल नेत्र हुए, तप्तायमान मुनि के सम्पूर्ण शरीर में से पसीने की बूँदें फूट निकली, फिर काल-अग्नि के समान प्रज्ज्वलित अग्नि का पुतला निकला और धरती आकाश अग्निरूप हो गये। लोग हाहाकार करते हुए मरण को प्राप्त हुए। जैसे, बाँस का वन जलता है; वैसे ही सारा देश भस्म हो गया। न राजा बचा, न अन्तःपुर, न पुर, न ग्राम, न पर्वत, न नदी, न वन, न कोई प्राणी; देश में कोई नहीं बचा।

महान ज्ञान-वैराग्य के योग से बहुत समय से मुनि ने जो समभावरूप धन उपार्जित किया था, वह तत्काल क्रोधरूप लुटेरे ने हर लिया। दण्डक देश का दण्डक राजा पाप के प्रभाव से नष्ट हुआ और देश भी नष्ट हो गया। अब यह दण्डक वन कहलाता है।

कुछ समय तक तो यहाँ घास भी नहीं उगती थी। बहुत समय के बाद यहाँ मुनियों का विहार हुआ, उसके प्रभाव से वृक्षादि हुए। यह वन देवों को भी भय उपजानेवाला है, विद्याधरों की तो बात ही

क्या ? दण्डक वन सिंह, बाघ, अष्टापद आदि अनेक जीवों से भरा और भाँति-भाँति के पक्षियों की आवाज से गूँजता था।

वह राजा दण्डक प्रबल शक्तिशाली था। वह मुनि हिंसा के महापाप से नरक-तिर्यञ्च योनियों में भटककर यह गीद्ध पक्षी हुआ है। अब इसके पापकर्म की निवृत्ति हुई है। हमें देखकर इसे पूर्व भव का स्मरण हुआ है और ऐसा जानकर यह संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हो गया है।

अन्य जीवों का जो दृष्टान्त है, वह अपने को शान्तभाव की उत्पत्ति का कारण है। इस पक्षी को अपने पूर्व भव की चेष्टा याद आ जाने से यह काँप रहा है।

पक्षी के प्रति दया करते हुए मुनि कहने लगे – 'हे भव्य ! अब तू भय मत कर। जिस समय जो होना होता है, वह होता है। तू रुदन किसलिए करता है ? होनहार को मिटाने में कोई समर्थ नहीं है। अब तू समताभाव धारण करके सुखी हो, पश्चाताप छोड़ ! देख, कहाँ यह वन और कहाँ सीता के साथ श्रीराम का आना और कहाँ हमारी वनचर्या का अभिग्रह कि वन में श्रावक द्वारा आहार मिलेगा तो लूँगा और कहाँ तेरा हमें देखकर प्रतिबद्ध होना ! कर्मों की गति विचित्र है, कर्मों की विचित्रता से जगत की विचित्रता है।'

मुनिराज ने पक्षी को वैराग्य के लिए संसार की कथा सुनाई। उसे सुनकर पक्षी भव-दुःख से भयभीत हुआ और धर्मग्रहण की वाञ्छा से बारम्बार आवाज करने लगा। तब श्रीगुरु ने कहा – 'हे भद्र ! तू भय मत कर ! श्रावक के व्रत अङ्गीकार कर, जिससे पुनः दुःख की परम्परा प्राप्त न हो। अब तू शान्तभाव धारण कर !'

इस प्रकार जब मुनियों ने आज्ञा की, तब पक्षी ने बारम्बार नमस्कार करके मुनिराज से श्रावक के व्रत धारण किये। सीता ने जब जाना कि यह उत्तम श्रावक हो गया है; इस कारण उसने आनन्दित होकर अपने हाथ से उस पक्षी के प्रति बहुत प्रेम व्यक्त किया। उसको विश्वास उत्पन्न करके दोनों मुनियों ने कहा – 'यह पक्षी अब शान्त चित्तवाला तपस्वी बन गया है, अब यह कहाँ जाएगा ? गहन वन में अनेक क्रूर जीव हैं; अतः तुम इस सम्यग्दृष्टि पक्षी की सदा रक्षा करना।'

गुरु के यह वचन सुनकर उन्हें पालन की इच्छावाली सीता ने उस पक्षी के प्रति अनुग्रह करके उसे रखा। राम-लक्ष्मण भी उसे जिनधर्मी जानकर अत्यन्त अनुराग करने लगे। उसकी जटा हेम और रत्नों की शोभा से शोभित थी; इस कारण उसका नाम 'जटायु' रखा गया। जब राम-सीता, लक्ष्मण, जिनेन्द्रभक्ति करते, तब जटायु हर्षित होकर नृत्य करता था।

[इस प्रकार दण्डक राजा, मुनियों की हिंसा के महापाप से नरक आदि के महादुःख भोगकर, मुनियों के समागम से गीद्ध पक्षी की अवस्था में धर्म प्राप्त करके राम-सीता के सङ्ग आत्मा साधना में आगे बढ़ा।]

(– महापुराण में से संक्षिप्त सार)

8

मोह से मुक्ति की ओर

पूर्व विदेहक्षेत्र में मङ्गलावती नाम का मनोहर देश है। वह मङ्गलावती देश श्री जिनेन्द्रदेव तथा मुनियों की वन्दना, यात्रा, पूजा-प्रतिष्ठा आदि के सैंकड़ों उत्सवों के धर्मध्यान का कारण होने से उसका 'मङ्गलावती' नाम सार्थक है। उसमें क्षेमकंर नाम के तीर्थङ्कर राज्य करते है। उन क्षेमकंर तीर्थङ्कर के वज्रायुद्ध नाम का (भविष्य में होनेवाले तीर्थङ्कर श्री शान्तिनाथ का जीव) चक्रवर्ती पुत्र है।

एक समय राजा वज्रायुद्ध सभा में सिंहासन पर विराजमान थे और उन पर सैंकड़ों चँवर ढूल रहे थे। वे राजा, इन्द्र समान सुशोभित हो रहे थे। वे चक्रवर्ती स्व-पर कल्याण के लिए तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए सिंहासन पर विराजमान होकर अपने भाई-बन्धु, मित्र राजाओं तथा सेवकों को धर्मोपदेश देते थे।

एक दिन एक विद्याधर डर से घबराकर दौड़ता हुआ आया और उसने अपनी रक्षा करने के लिए चक्रवर्ती से शरण प्रदान करने की याचना की। तभी उसके पीछे-पीछे सभा भवन को कँपायमान करती हुई एक विद्याधरी आयी। वह क्रोधरूपी अग्नि

में जल रही थी और हाथ में खुली तलवार लेकर इस विद्याधर को मारना चाहती थी। उस विद्याधरी के पीछे एक वृद्ध विद्याधर आया, उसके हाथ में गदा थी। वह इन दोनों के वैरभाव से परिचित था।

वृद्ध विद्याधर, राजा वज्रायुद्ध को नमस्कार करके कहने लगा – 'हे स्वामिन्! आप दुष्टों को दण्ड देने और सज्जनों का पालन करने में चतुर हो। वस्तुतः दुष्टों को उचित दण्ड देना और सज्जनों का पालन करना ही क्षत्रियों का धर्म है और आप हमेशा इस धर्म का पालन करते रहे हो। अतः आप जैसे धर्मात्मा को अवश्य ही इस दुष्ट विद्याधर को दण्ड देना चाहिए, क्योंकि यह अन्यायी है, पापी है। हे देव! यदि आप इसका कारण जानना चाहते हैं तो मैं जो कहता हूँ उसे मन लगाकर सुनें।

❖ ❖ ❖

यह जम्बूद्वीप धर्म का स्थान है तथा देव, विद्याधर और मनुष्यों से भरा हुआ है। इसमें एक कच्छ नाम का मनोहर देश है और उसमें एक विजयार्द्ध पर्वत है। उसकी उत्तर श्रेणी के शुकप्रभ नगर में अपने पूर्व सञ्चित धर्म के प्रभाव से इन्द्रदत्त नाम का विद्याधर राज्य करता था। उसकी शुभलक्षणोंवाली रानी का नाम यशोधरा था। मैं उसका वायुवेग नाम का पुत्र हूँ; समस्त विद्याधर मेरी आज्ञा मानते हैं।

उसी श्रेणी के किन्नरगीत नामक नगर चित्रचूल नाम का विद्याधर राज्य करता था, उसकी सुकान्ता नाम की पुत्री थी। सुकान्ता का विवाह विधिपूर्वक मुझसे हुआ। उसके गर्भ से यह शान्तिमति नामक शीलवती कन्या उत्पन्न हुई है। यह भोग और धर्म की सिद्धि के लिए पूजा की सामग्री लेकर मुनिसागर पर्वत पर

विद्या सिद्ध करने गयी थी। जब यह विद्या साध रही थी, उस समय यह दुष्ट कामातुर पापी उस विद्यासिद्धि में विघ्न करने आया, परन्तु पुण्यकर्मोदय से सब कार्य सिद्ध करनेवाली तथा सुखप्रदायिनी सारभूत यह विद्या, मेरी इस पुत्री को उसी समय प्राप्त हो गयी। यह पापी, विद्या के भय से आपकी शरण में आया है और मेरी पुत्री भी क्रोधवश इसे मारने के लिए पीछे-पीछे आयी है। जब मैं विद्या की पूजा सामग्री लेकर वहाँ पहुँचा, तब वहाँ अपनी पुत्री को न देखकर इसी मार्ग से मैं भी पीछे-पीछे यहाँ आया हूँ। हे नाथ! इस प्रकार मैंने अपनी वास्तविकता आपके समक्ष प्रस्तुत की है। अब आप इस दुष्ट के लिए जो कुछ उचित समझें, सो करें।'

वृद्ध विद्याधर की बात सुनकर अवधिज्ञानी चक्रवर्ती महाराज कहने लगे - हे भाई! विद्या सिद्ध करने में जो विघ्न डालता था, वह मैं जानता हूँ। मैं अपने अवधिज्ञान से जानकर तुम्हें इनके पूर्व भव की कथा कहता हूँ, वह सुनो।

❖ ❖ ❖

इसी जम्बूद्वीप के ऐरावतक्षेत्र में गन्धार देश के विन्ध्यपुरी नगर में विन्ध्यसेन नाम का राजा राज्य करता था। उसके सुलक्षणोंवाली सुलक्षण नाम की रानी थी। इन दोनों के नलिनकेतु नाम का पुत्र था। उसी नगर में धनदत्त नाम का धनी वैश्य रहता था। उसकी सहधर्मिणी का नाम श्रीदत्ता था। उन दोनों के सुदत्त नाम का पुत्र था, उसकी पत्नी का नाम प्रीतिकरा था। वह स्त्री रूप, लावण्य और गुणों की निधि थी।

एक दिन प्रीतिकरा वनभ्रमण के लिये गयी। वहाँ राजपुत्र

नलिनकेतु की दृष्टि उस पर पड़ गयी, उसकी सुन्दरता देखकर वह कामासक्त हो गया। वह न तो उसके बिना रह सका और न कामाग्नि को सहन कर सका; इस कारण वह मूर्ख न्यायमार्ग का उल्लंघन कर बलजोरी से प्रीतिकरा का हरण करके ले गया।

पत्नी के वियोग से सेठ सुदत्त का हृदय भी व्याकुल हो गया। वह अपने को पुण्यहीन समझकर, अपनी निन्दा करने लगा। वह विचारने लगा – 'मैंने न तो पूर्व भव में धर्म का पालन किया था, न तप किया था, न चारित्र धारण किया था, न दान दिया था और न ही जिनेन्द्रदेव की पूजा की थी; इस कारण मेरे पापकर्मोदय से मेरी रूपवती स्त्री का राजा ने जबरदस्ती हरण कर लिया।

संसार में सुख देनेवाले इष्टपदार्थों का जो वियोग होता है; स्त्री, धन आदि का जो वियोग होता है; दुष्ट, शत्रु, चोर, रोग, क्लेश, दुःख आदि दुष्ट अनिष्ट पदार्थों का संयोग होता है, वह सब पापरूप शत्रु द्वारा किया हुआ होता है। मनुष्यों को जब तक पूर्व भव में उपार्जित अनेक दुःख देनेवाले पापकर्मों का उदय है, वहाँ तक उसको उत्तम सुख कभी प्राप्त नहीं होता। यदि पापरूपी शत्रु न हो तो मुनिराज, घर छोड़कर वन में जाकर तपश्चरणरूपी तलवार से किसे मारते हैं? संसार में वही सुखी है, जिसने अलौकिक सुख प्राप्त करने के लिए चारित्ररूपी शस्त्र के प्रहार से पापरूपी महाशत्रु को मार दिया है; इसलिए मैं भी सम्यक्चारित्ररूपी धनुष लेकर ध्यानरूपी बाण से अनेक दुःखों के सागर इस पापरूपी शत्रु का नाश करूँगा।'

– इस प्रकार हृदय में विचार करके, काललब्धि प्रगट होने

पर सेठ सुदत्त स्त्री, भोग, शरीर और संसार से विरक्त हो गया। तत्पश्चात् वह दीक्षा अङ्गीकार करने के लिए सुदत्त तीर्थङ्कर के समीप पहुँचा और शोकादिक को त्यागकर तपश्चर्या के लिए तैयार हुआ। समस्त जीवों का हित करनेवाले तीर्थङ्कर भगवान को नमस्कार करके, उसने मुक्तिरूपी स्त्री को वश करनेवाला संयम धारण किया।

वह विरक्त होने के कारण बहुत दिनों तक शरीर को कष्टकारक कायोत्सर्ग आदि अनेक प्रकार की कठिन तपस्या करने लगा। मोक्ष प्राप्त करने के लिए उन मुनिराज ने बिना किसी प्रमाद के मरणपर्यन्त धर्मध्यान किया। अन्त में उन्होंने संन्यास धारण करके मन को शुद्ध किया और समस्त आराधनाओं का आराधन किया। अपने हृदय में जिनेन्द्रदेव को विराजमान करके अत्यन्त जागृतिपूर्वक प्राणों का परित्याग किया। उस चारित्ररूपी धर्म के प्रभाव से वे ईशानस्वर्ग में महाऋद्धि को धारण करनेवाले देव हुए। उस देव की आयु एक सागर की थी। वहाँ देवाङ्गनाओं के साथ सुख भोगता और अनेक प्रकार की क्रीड़ा करता हुआ वह देव, स्वर्गलोक एवं मनुष्यलोक की जिनप्रतिमाओं की महाविभूतिसहित पूजा करता था।

❖ ❖ ❖

इसी जम्बुद्वीप के सुकच्छ देश में शिखरों पर देवियों के भवनों से शोभायमान विजयार्द्धपर्वत है। उसकी उत्तरश्रेणी के कञ्चनतिलक नगर में महेन्द्रविक्रम नाम का विद्याधर राजा राज्य करता था। उसकी सुखदायिनी रानी का नाम अनलवेगा था। वह देव, स्वर्ग से आकर उसके यहाँ अजितसेन नाम का पुत्र हुआ।

इधर राजपुत्र नलिनकेतु को भी उल्कापात देखकर वैराग्य होने से आत्मज्ञान प्राप्त हुआ। उसने पहले जो दुश्चरित्र का सेवन किया था, उसकी निन्दा करने लगा एवं हृदय में परस्त्री के परित्याग का सङ्कल्प करके अपने पाप का प्रायश्चित करने लगा।

वह विचार करने लगा – 'अरे रे! मैं बहुत पापी हूँ, परस्त्री भोगी हूँ, लम्पटी हूँ, अधम हूँ, विषयान्ध हूँ, सैंकड़ों अन्याय करनेवाला हूँ। स्त्रियों के शरीर में अच्छा क्या है? वह तो चमड़ी, हड्डियों और अन्तड़ियों का समूह है। संसार में जितने अमनोज्ञ पदार्थ हैं, उन सबका आधार तथा विष्ठा आदि दुर्गन्धमय चीजों का घर तो शरीर है। यह शरीर, सप्त धातुओं से निर्मित है। स्त्रियों की देह मात्र गोरी चमड़ी से ढँका हुआ है तथा ऊपर से वस्त्राभूषण से सुशोभित है। स्त्रियों का शरीर करोड़ों कीड़ों से भरा हुआ है, विष के समान है। अरे! संसार में ऐसा कौन ज्ञानी पुरुष है जो उसका सेवन करेगा? यह स्त्री तो नरकरूपी घर का दरवाजा है, स्वर्ग-मोक्षरूपी घर के लिए अर्गल (व्यवधान) समान है। यह स्त्री समस्त पापों की खान है। चञ्चल हृदयवाली स्त्री, धर्मरत्नों के खजाने को चुराने के लिए चोर है। मनुष्यों का भक्षण करने के लिए दृष्टिविष सर्पिनी के समान हैं। मूर्ख जीव, स्त्रियों के समागम से व्यर्थ ही प्रतिदिन अनेक पापों का उपार्जन करते हैं।

अरे रे! संसार में कितने पुण्यवान पुरुष ऐसे हैं कि जो अपनी स्त्री का भी परित्याग करके संयम धारण करते हैं, परन्तु मेरे समान नीच कौन होगा, जो परस्त्री को चाहता है? – इस प्रकार अपनी निन्दा करके उसने पूर्वोपार्जित पापों को नष्ट किया और पापरूपी वन को जलाने के लिए अग्नि-समान संवेग को बलवान किया।

तत्पश्चारत् चारित्र धारण करने की इच्छा करता हुआ वह राजपुत्र नलिनकेतु उस स्त्री तथा राज भोगों का परित्याग कर सीमंकर मुनि के समीप पहुँचा। उसने दुःखरूपी दावानल को बुझाने के लिए वर्षा समान उन मुनिराज के दोनों चरण युगल को नमस्कार किया और बाह्याभ्यन्तर परिग्रह को त्यागकर दीक्षा धारण की। उसका संवेग गुण बहुत बढ़ गया, इस कारण उसने घोर तपश्चर्या की और समस्त तत्त्वों से परिपूर्ण आगम का बहुत अभ्यास किया।

नलिनकेतु मुनिराज ने क्षपकश्रेणी पर आरुढ़ होकर प्रथकत्व -वितर्क नामक शुक्लध्यानरूपी तलवार से दुष्ट कषायरूपी शत्रुओं को मारकर तीन वेदों को नष्ट किया और दूसरे शुक्ल -ध्यानरूपी वज्र से शेष घातिकर्मरूपी पर्वत को चूर-चूर करके साक्षात केवलज्ञान प्रगट किया। उसी समय इन्द्रों आदि ने आकर उनकी पूजा की। कुछ समय पश्चात् सुख के सागर जिनराज, अघातिकर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करके शाश्वत् मोक्षपद में जाकर विराजित हुए।

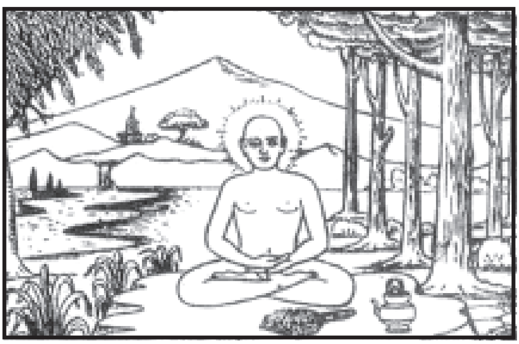

प्रीतिकरा ने भी अपने दुराचार की निन्दा की और मोक्ष की प्राप्ति के लिए संवेग धारण करके सुव्रता नामक आर्यिका के समीप जा पहुँची। उसने घर सम्बन्धी समस्त परिग्रह का त्याग करके संयम धारण किया। कर्मरूपी तृण को जलानेवाली अग्नि

को शुद्ध करने के लिए चन्द्रायण तप किया। अन्त में संन्यास धारण करके विधिपूर्वक प्राणों का त्याग किया। इस पुण्य से वह अनेक सुख तथा गुण के समुद्र ईशानस्वर्ग में उत्पन्न होकर वहाँ के दिव्य भोग भोगते हुए आयु पूर्ण करके, वहाँ से चयकर अब तेरी पुत्री हुई है। अतः पूर्व जन्म के स्नेह से जिसका मन, राग से अन्धा हो रहा है – ऐसे इस अजितसेन ने इस विद्याधरी को जबरदस्ती विकार पैदा करने का प्रयत्न किया है। पूर्व जन्म के संस्कार से इस लोक में भी जीवों का स्नेह, वैर, गुण, दोष, राग-द्वेष आदि सब चले आते हैं – ऐसा समझकर बुद्धिमान पुरुष, शत्रुओं के लिए भी कभी विषाद नहीं करते। अतः तू भी वैरभाव का त्याग कर दे।

❖ ❖ ❖

इस प्रकार राजा वज्रायुद्ध के मुख से अपने पूर्व भव का वृतान्त सुनकर वह शान्तिमति विद्याधरी संसार से उदास हो गयी। उसने अपने विवाह की तैयारियाँ छोड़ दी तथा पिता, परिवार आदि का त्याग करके, देवों द्वारा पूज्य क्षेमंकर तीर्थङ्कर के समीप पहुँची। उस सती ने श्री जिनेन्द्रदेव की तीन प्रदक्षिणा करके नमस्कार किया और धर्मामृत का पान करने के लिए सभा में जा बैठी। उसने अपने कानों द्वारा जन्म-मरण और वृद्धापन के दाह को दूर करनेवाला, आत्मरस प्रगट करनेवाला, मुनियों के समझने योग्य धर्मामृतरूपी उत्तमरस का पान किया।

तत्पश्चात् वह सुलक्षणा नाम की श्रेष्ठ गुणशालिनी आर्यिका के समीप पहुँची और मोक्ष प्राप्त करने के लिए मोक्ष को वश करनेवाला चारित्र धारण किया। उस शान्तिमति विद्याधरी ने एक साड़ी के सिवाय अन्य समस्त बाह्य परिग्रह का त्याग किया तथा

मिथ्यात्व आदि अन्तरङ्ग परिग्रह का त्याग किया। संवेगगुण से सुख के सागर समान कठिन तपस्या की और शास्त्रों का अभ्यास करके सम्यग्दर्शन की विशुद्धि धारण की, अन्त में चार प्रकार का संन्यास धारण किया। एकाग्रचित्त से श्री जिनेन्द्रदेव का स्मरण किया, द्वादश भावनाओं का चिन्तवन किया और समाधिपूर्वक प्राणों का त्याग करके सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्त्रीलिङ्ग का छेद करके ईशानस्वर्ग में महाऋद्धि को धारण करनेवाला देव हुई।

वह देव अवधिज्ञान से अपने पूर्व भव जानकर मुनियों तथा जिनप्रतिमाओं की पूजा करने के लिए पृथ्वी पर आया। उसी समय मुनिराज अजितसेन (शान्तिमति को विद्यासिद्धि में विघ्न करता था वह) और वायुवेग (शान्तिमति के पिता) के दर्शन किये। अतिशय वैराग्य के कारण घर का त्याग करके संयम का धारण करने से तथा तपस्या और ध्यान से उन दोनों को केवलज्ञानरूपी नेत्र प्राप्त हुए थे, अर्थात् दोनों को उसी समय केवलज्ञान प्रगट हुआ था। वे दोनों सिंहासन पर विराजित थे। उन पर चँवर ढूल रहे थे। बहुत प्रकार की विभूति एवं प्रतिहार्यों के मध्य वे विराजमान थे। असंख्य देवगण उनकी सेवा कर रहे थे। वे चार संघों से सुशोभित थे। समस्त जीवों के हित के लिए सदा तत्पर थे। अनेक प्रकार से उनकी महिमा थी। समस्त इन्द्र एक साथ मिलकर दोनों जिनराज की पूजा कर रहे थे। उनको अनन्त सुख प्राप्त हो गया था। अनेक मुनिराज उनको वन्दन कर रहे थे।

उन दोनों के दर्शन करके वह देव विचारने लगा - अहा! आश्चर्य है!! कहाँ तो भय से व्याकुल विषयान्ध विद्याधर, और

कहाँ तो देवों द्वारा पूजित तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव ! कहाँ तो मेरे वृद्ध पिता और कहाँ तो सर्व पदार्थों को एक साथ देखनेवाले श्री केवली भगवान ! संसार में बड़े-बड़े पुरुषों को भी आश्चर्य उत्पन्न होने योग्य बात है !

अहा ! पहले मुनिराज ने कहा था कि जीव में अनन्त शक्ति है, वह मिथ्या कैसे हो ? क्योंकि मैंने इस समय वह शक्ति साक्षात् देखी है ! इस प्रकार मन में चिन्तवन करते-करते केवली को तीन प्रदक्षिणा देकर मस्तक झुकाकर वन्दन किया; उनके गुणगाान करते हुए स्तुति की और स्वर्गलोक के द्रव्यों से भक्तिपूर्वक पूजा करके आश्चर्यकारी धर्म से प्रसन्न होकर वह देव, स्वर्ग में गया।

इस प्रकार, परस्त्री हरण करनेवाले मोहान्ध नलिनकेतु ने उसी भव में मोहविजेता बनकर सादि-अनन्त सुख को प्राप्त किया और पूर्व-स्नेह के संस्कारवश शान्तिमति विद्याधरी पर कामासक्त होनेवाला अजितसेन विद्याधर तथा उसका वैर लेने को तत्पर हुए शान्तिमति के पिता भी शाश्वत् सुख को प्राप्त हुए – यह सब अनन्त शक्तिस्वरूप चैतन्यस्वभाव की आराधना का ही चमत्कार है।

(– शान्तिनाथ पुराण से सारांश)

९

मुक्तिपथ के राही

श्री सुव्रत मुनिराज

सौराष्ट्र देश की सुन्दर नगरी द्वारिका में अन्तिम नारायण श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। श्रीकृष्ण की कई रानियाँ थीं, परन्तु उन सबमें सत्यभामा महाभाग्यवती थी। श्रीकृष्ण का सबसे अधिक प्रेम इसी रानी के प्रति था। श्रीकृष्ण, तीन खण्ड के स्वामी थे, अर्धचक्री थे। हजारों राजा–महाराजा इनकी सेवा में तत्पर रहा करते थे।

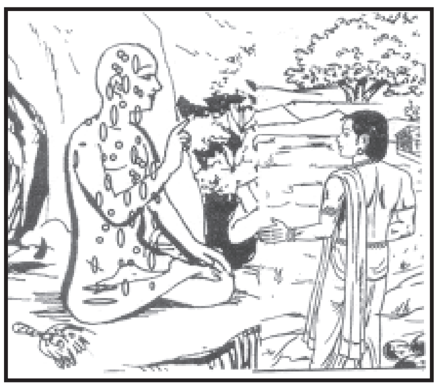

एक दिन श्रीकृष्ण, नेमिनाथ भगवान के दर्शनार्थ समवसरण में जा रहे थे, रास्ते में उन्होंने महातपस्वी श्री सुव्रत मुनिराज को सरोगदशा में देखा। मुनिराज का सारा शरीर रोग से कष्ट पा रहा था। मुनिराज की यह दशा श्रीकृष्ण से नहीं देखी गयी। धर्म प्रेम से उनका हृदय विचलित हो गया।

अहो! धर्मात्मा मुनिराज को ऐसा कष्ट! नहीं, नहीं; मुझे

इसके प्रतिकार के लिए कुछ उपाय अवश्य करना चाहिए। अहा! यद्यपि मुनिराज तो निज चैतन्य की आराधना से परम शान्ति का ही अनुभव कर रहे हैं, देह के प्रति उनका लक्ष्य ही नहीं है, तो भी देह की रोगजनित दशा को देखकर जिनधर्म वत्सल श्रावक को उसके प्रतिकार का विकल्प कैसे नहीं आएगा? यह विकल्प तो उस भूमिका के योग्य ही है – ऐसा विचार कर उन्होंने उसी समय एक जीवक नामक प्रसिद्ध वैद्य को बुलाया और मुनि को दिखाकर औषधि के लिए पूछा। वैद्य के कहे अनुसार सब श्रावकों के घरों में उन्होंने औषधि मिश्रित लड्डुओं के बनवाने की सूचना करवा दी। थोड़े ही दिनों में इस व्यवस्था से मुनि को आराम हो गया, सारा शरीर रोगमुक्त होकर पूर्ववत् सुन्दर हो गया। इस औषधिदान के प्रभाव से श्रीकृष्ण के तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध हुआ। सच है, सुख के कारण सुपात्र दान से संसार में सत्पुरुषों को सभी कुछ प्राप्त होता है।

एक दिन सुव्रत मुनिराज को निरोग अवस्था में देखकर श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने मुनिराजश्री को नमस्कार करके अत्यन्त भक्तिपूर्वक पूछा – 'भगवन्, आप अच्छे तो हैं? रत्नत्रय की कुशलता के साथ-साथ आपकी शारीरिक स्थिति उत्तम तो है न?'

उत्तर में मुनिराज ने कहा – 'राजन्, शरीर तो स्वभाव ही से अपवित्र, नाश होनेवाला और क्षण-क्षण में अनेक अवस्थाओं को बदलनेवाला है; इसमें अच्छा और बुरापन क्या है? परिवर्तन तो पदार्थों का स्वभाव है। अपने इसी स्वभावानुसार यह शरीर कभी निरोग और कभी सरोग हो जाया करता है। इसका कुछ भी हो, मुझे

न इसके रोगी होने में खेद है और न निरोग होने में हर्ष! मुझे तो अपने आत्मा से काम है, मैं तो उसी की पूर्ण प्राप्ति करने में लगा हुआ हूँ और वही मेरा परम कर्तव्य है।'

सुव्रत योगीराज की शरीर से इस प्रकार निस्पृहता देखकर, श्रीकृष्ण को बड़ा आनन्द हुआ, उन्होंने मुनिराज को नमस्कार कर उनकी बहुत प्रशंसा की।

जब शरीर के प्रति मुनिराज की यह निस्पृहता, जीवक वैद्य के कानों में पहुँची तो उसे इस बात का बड़ा दुःख हुआ और उसे मुनिराज के प्रति अत्यन्त घृणा उत्पन्न हुई। अहो! कर्तव्य के अहङ्कार से ग्रस्त और मुनिराज की अन्तः परिणति से अपरिचित, वह वैद्य विचारने लगा – 'अरे! मुनि का मैंने इतना उपकार किया, उन्हें रोगमुक्त किया; तब भी उन्होंने मेरे सम्बन्ध में प्रशंसावाचक एक शब्द भी नहीं कहा!' इस प्रकार वीतरागी सन्तों की अन्तःपरिणति से अपरिचित उस अज्ञानी वैद्य ने मुनि को बड़ा कृतघ्न समझकर, उनकी बहुत निन्दा करके अपने लिए दुर्गति के द्वार खोल लिये। इस मुनिनिन्दा से उसे महापाप का बन्ध हुआ। अन्त में जब उसकी मृत्यु हुई, तब वह इस पाप के फल से नर्मदा नदी के किनारे एक बन्दर हुआ।

अरे! अज्ञानियों को साधुओं के आचार-विचार, व्रत, नियम एवं आन्तरिक वीतरागता आदि का कुछ ज्ञान तो होता नहीं है, व्यर्थ उनकी निन्दा करके, वे पापकर्म बाँध लेते हैं, जिससे उन्हें दुःख उठाना पड़ता है।

★ ★ ★

एक बार वह जीवक वैद्य का जीव बन्दर, जिस वृक्ष पर बैठा हुआ था, उसके नीचे वे ही सुव्रत मुनिराज ध्यान कर रहे थे। इस समय उस वृक्ष की एक टहनी टूटकर मुनिराज पर जा गिरी। उसकी तीखी नोंक मुनिराज के पेट में घुस गयी। पेट का कुछ हिस्सा चिरकर उससे खून बहने लगा। मुनि पर जैसे ही उस बन्दर की नजर पड़ी, उसे जातिस्मरण हो गया। वह पूर्व जन्म की शत्रुता भूलकर उसी समय दौड़ पड़ा और थोड़ी ही देर में बहुत से बन्दरों को बुला लाया। उन सबने मिलकर उस डाली को बड़ी सावधानी से खींचकर निकाल लिया और वैद्य के जीव ने पूर्व जन्म के संस्कार से जङ्गल से जड़ी-बूटी लाकर उसका रस मुनि के घाव पर निचोड़ दिया, जिससे मुनि को शान्ति मिली। इस भाव से बन्दर ने भी बहुत पुण्यबन्ध किया।

देखो! पूर्व जन्मों में जैसा अभ्यास किया जाता है, जैसा पूर्व जन्म का संस्कार होता है, दूसरे जन्मों में भी उसके संस्कार बने रहते हैं और प्रायः जीव वैसा ही कार्य करने लगता है।

बन्दर में-एक पशु में इस प्रकार की दयाशीलता देखकर, मुनिराज को अवधिज्ञान द्वारा उसके जन्म का सब वृत्तान्त ज्ञात हो गया। तब उन्होंने उसे भव्य समझकर अत्यन्त करुणाभाव से पूर्व जन्म की सब कथा सुनाई और धर्म का उपदेश देते हुए कहा – 'हे भव्य! विगत भव में कर्तृत्त्व के अहङ्कार में फँसकर, वीतरागी मुनिदशा के अविनय के फल में तुम इस बन्दर पर्याय को प्राप्त हुए हो। अरे! वैद्य पर्याय हो या बन्दर की पर्याय; तुम तो अनादि -अनन्त आत्मा हो। ज्ञान और आनन्द ही तुम्हारा स्वभाव है। अब

तक तुमने दूसरों के शारीरिक रोग मिटाने में अपना जीवन व्यतीत किया है; भाई! अब अपने आत्मा के भवरोग का नाश करने के लिए अन्तर्मुखी प्रयत्न करो।'

मुनिराज के मुखचन्द्र से उपदेशरूपी अमृत की वर्षा हो रही थी और वह बन्दर, मेढ़े की भाँति टकटकी लगाकर उपदेशामृत का पान कर रहा था। बन्दर की निकट भव्यता का परिपाक देखकर मुनिराज की अकारण करुणा बरसाती वाणी खिरने लगी –

'हे भव्य! मेरी ओर टकटकी लगाकर क्या देख रहा है? अपनी ओर देख! तेरे भव का अभाव मेरी ओर देखने से नहीं; अपनी निजात्मा की ओर देखने से होगा। देख... देख... अपने अन्तर में देख! तुझे आनन्द से छलकते हुए, अमृत सरोवर के दर्शन होंगे। तेरी अनादि की सुख-शान्ति की प्यास बुझ जाएगी।'

मुनि की कृपा से धर्म का पवित्र उपदेश सुनकर, उस बन्दर ने निज आत्मस्वभाव के साक्षात्कारपूर्वक भक्ति से सम्यक्त्व एवं श्रावक के अणुव्रतों को ग्रहण किया। अतीन्द्रिय आनन्दभोजी उस बन्दर ने जीवनपर्यन्त सम्यक्त्व एवं अणुव्रतों की अखण्ड आराधना को बनाये रखा। अन्त में सात दिन का संन्यासमरणपूर्वक इस धर्म के प्रभाव से वह सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। यह धर्म का ही तो प्रभाव था, जिससे एक बन्दर पशु भी देव हो गया; इसलिए धर्म अथवा गुरु से बढ़कर संसार में कोई सुख का कारण नहीं है।

●●

10

सम्भावी संजयन्त मुनि

सुमेरु के पश्चिम की ओर विदेह के अन्तर्गत गन्धमालिनी नाम का देश है। उसकी प्रधान राजधानी वीतशोकपुर है। जिस समय की यह कथा है, उस समय उसके राजा वैजयन्त थे। उनकी महारानी का नाम भव्यश्री था। उनके दो पुत्र थे, उनके नाम थे संजयन्त और जयन्त।

एक दिन बिजली के गिरने से महाराज वैजयन्त का प्रधान हाथी मर गया। संसार की यह क्षणभंगुरता देखकर उन्हें संसार से वैराग्य हो गया। वे विचारने लगे – अरे! इस संसार में जन्म के साथ मरण तो लगा ही है। इस अशरण संसार में पञ्च परमेष्ठी एवं निज शुद्धात्मा ही शरण है। धिक्कार है मुझे! मैंने सांसारिक विषय –कषायों में फँसकर अब तक अपना मानवजीवन व्यर्थ गवाँ दिया है। एक दिन इस हाथी जैसी ही दशा मेरी होनेवाली है। अहा! मरण का समय आने से पूर्व ही मुझे मुनिदशा अङ्गीकार करके मुक्ति की साधना कर लेना चाहिए।

इस प्रकार विचार करके उन्होंने राज्य छोड़ने का निश्चय कर लिया। अपने दोनों पुत्रों को बुलाकर उन्हें राज्यभार सौंपना चाहा;

तब दोनों भाईयों ने उनसे कहा – 'पिताजी, राज्य तो संसार के बढ़ाने का कारण है, इससे तो उल्टा हमें सुख की जगह दुःख भोगना पड़ेगा; इसलिए हम तो इसे अङ्गीकार नहीं करेंगे। आप भी तो इसीलिए छोड़ते हैं न – कि यह बुरा है, पाप का कारण है। हमारा तो विश्वास है कि बुद्धिमानों को, आत्महित के चाहनेवालों को, राज्यभार की झंझटों को सिर पर उठाकर अपनी स्वाभाविक शान्ति को नष्ट नहीं करना चाहिए। यही विचार कर हम राज्य लेना उचित नहीं समझते। हम तो आपके साथ ही साधु बनकर अपना आत्महित करेंगे।'

वैजयन्त ने पुत्रों पर अधिक दबाव न डालकर उनकी इच्छा के अनुसार उन्हें मुनिदीक्षा की आज्ञा दे दी और राज्य का भार संजयन्त के पुत्र को देकर स्वयं भी तपस्वी बन गये। साथ ही वे दोनों भाई भी साधु हो गये।

तपस्वी बनकर वैजयन्त मुनिराज महान् तपश्चर्या करने लगे, कठिन से कठिन परीषह सहन करने लगे। अन्त में ध्यानरूपी अग्नि से घातियाकर्मों का नाश करके उन्होंने लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया। उस समय उनके ज्ञानकल्याण की पूजा करने को स्वर्ग से देव आये। उनके स्वर्गीय ऐश्वर्य और उनकी दिव्य सुन्दरता को देखकर संजयन्त के छोटे भाई जयन्त ने निदान किया – 'मैंने जो इतना तपश्चरण किया है, मैं चाहता हूँ कि उसके प्रभाव से मुझे दूसरे जन्म में ऐसी ही सुन्दरता और ऐसी ही विभूति प्राप्त हो।' वही हुआ। उसका किया निदान उसे फलित हुआ। वह आयु के अन्त में मरकर धरणेन्द्र हुआ।

इधर संजयन्त मुनि पन्द्रह-पन्द्रह दिन के, एक-एक महीना के उपवास करने लगे, भूख-प्यास की कुछ परवाह न कर बड़ी धीरता के साथ परीषह सहने लगे। उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो

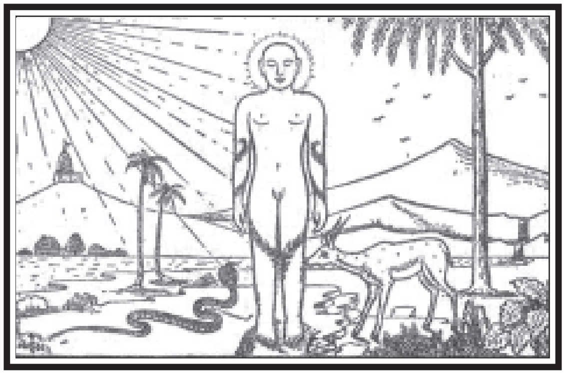

गया, फिर भी वे भयङ्कर वनों में सुमेरु के समान निश्चल रहकर सूर्य की ओर मुँह करके तपश्चर्या करने लगे। गर्मी के दिनों में अत्यन्त गर्मी पड़ती; शीत के दिनों में अत्यन्त शीत और वर्षा के समय मूसलाधार पानी वर्षा करता - ऐसे अवसर में भी वे धीर-वीर मुनिराज वृक्षों के नीचे बैठकर ध्यान करते। वन के जीव-जन्तु सताते, पर इन सब कष्टों की कुछ परवाह न करते हुए आप सदा आत्मध्यान में लीन रहते।

एक दिन की बात है कि संजयन्त मुनिराज तो आत्मध्यान में तल्लीन थे, उसी समय एक विद्युद्दंष्ट्र नाम का विद्याधर आकाशमार्ग से उधर होकर निकला। मुनि के प्रभाव से उसका विमान आगे नहीं बढ़ पाया। एकाएक विमान को रुका हुआ देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने नीचे की ओर दृष्टि डालकर देखा तो उसे संजयन्त मुनि दृष्टिगोचर हुए। उन्हें देखते ही उसका आश्चर्य, क्रोध के रूप में परिणत हो गया। उसने मुनिराज को अपने विमान का रोकनेवाला समझकर उन पर नाना तरह के भयङ्कर उपद्रव

करना शुरु किया; क्रोधावेश में आकर मुनिराज को बहुत कष्ट पहुँचाया परन्तु मुनिराज उसके उपद्रवों से रञ्चमात्र भी विचलित नहीं हुए। वे जैसे निश्चल थे, वैसे ही खड़े रहे। सच है, वायु का कितना ही भयङ्कर वेग क्यों न चले, पर सुमेरु हिलता तक भी नहीं।

इन सब भयङ्कर उपद्रवों से भी जब उसने मुनिराज को सुमेरुवत् अचल देखा, तब उसका क्रोध और भी बहुत बढ़ गया। वह अपने विद्याबल से मुनिराज को वहाँ से उठा ले चला और भारतवर्ष में पूर्व दिशा की ओर बहनेवाली सिंहवती नाम की एक बड़ी विशाल नदी में, जिसमें कि पाँच बड़ी-बड़ी नदियाँ और मिली थीं, डाल दिया। भाग्य से उस प्रान्त के लोग भी बड़े पापी थे; अतः उन्होंने मुनिराज को एक राक्षस समझकर सर्व साधारण में यह प्रचार कर दिया कि यह हमें खाने के लिये आया है सबने क्रोधित होकर मुनिराज को पत्थरों से मारा।

मुनिराज ने यह सब उपद्रव अत्यन्त शान्ति के साथ सहा। उन्होंने अपने पूर्ण आत्मबल के प्रभाव से हृदय को लेशमात्र भी अधीर नहीं बनने दिया क्योंकि सच्चे साधु वे ही हैं -

तृणं रत्नं वा रिपुरिव परममित्रमथवा,
स्तुतिर्वा निन्दा वा मरणमथना जीवितमथ।
सुख वा दुःखं वा पितृवनमहोत्सौधमथवा,
स्फुटं निर्ग्रन्थानां द्वयमपि समं शान्तमनसाम्॥

अर्थात्, जिनके पास राग-द्वेष बढ़ानेवाला परिग्रह नहीं है, जो निर्ग्रन्थ हैं और सदा शान्तचित्त रहते हैं, उन साधुओं के लिये तृण हो या रत्न; शत्रु हो या मित्र; उनकी कोई प्रशंसा करो या बुराई; वे

जीवें अथवा मर जाएँ; उन्हें सुख हो या दु:ख और उनके रहने को श्मशान हो या महल, उनकी दृष्टि सब पर समान रहेगी। वे किसी से प्रेम या द्वेष न कर सब पर समभाव रखेंगे।

संजयन्त मुनि ने भी विद्याधरकृत सब कष्ट समभाव से सहकर, अपने अलौकिक धैर्य का परिचय दिया। इस अपूर्व ध्यान के बल से संजयन्त मुनि ने चार घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया और इसके बाद अघातिया कर्मों का भी नाश कर वे मोक्ष चले गये। उनके निर्वाण कल्याण की पूजन करने देव आये। वह धरणेन्द्र भी इनके साथ था, जो संजयन्त मुनि का छोटा भाई था और निदान करके धरणेन्द्र हुआ था।

धरणेन्द्र को अपने भाई के शरीर की दुर्दशा देखकर महा क्रोध उत्पन्न हुआ। उसने भाई को कष्ट पहुँचाने का कारण वहाँ के नगरवासियों को समझकर, उन सबको अपने नागपाश से बाँध लिया और उन्हें दु:ख देने लगा।

नगरवासियों ने हाथ जोड़कर उससे कहा – 'प्रभो! हम तो इस अपराध से सर्वथा निर्दोष हैं। आप हमें व्यर्थ ही कष्ट दे रहे हो। यह सब कर्म तो पापी विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर का है। आप उसे ही पकड़िये न!' इतना सुनते ही धरणेन्द्र, विद्याधर को पकड़ने के लिये दौड़ा और उसके पास पहुँचकर उसे अपने नागपाश से बाँध लिया। तत्पश्चात् उसे बहुत मार-पीटकर समुद्र में डालना चाहा।

धरणेन्द्र का इस प्रकार निर्दय व्यवहार देखकर एक दिवाकर नाम के दयालु देव ने उससे कहा – 'भाई! तुम इसे व्यर्थ ही क्यों कष्ट दे रहे हो? उसकी तो संजयन्त मुनि के साथ पूर्व चार भवों

से शत्रुता चली आ रही है। इसी कारण उसने मुनि पर उपसर्ग किया था।'

धरणेन्द्र बोला – 'यदि ऐसा है तो उसका कारण मुझे बतलाइये।'

दिवाकर देव ने तब यों कहना आरम्भ किया –

❖ ❖ ❖

'पहले समय में भारतवर्ष में एक सिंहपुर नाम का शहर था। उसके राजा सिंहसेन थे। वे बड़े बुद्धिमान् और राजनीति के अच्छे जानकार थे। उनकी रानी का नाम रामदत्ता था। वह बुद्धिमती और बड़ी सरल स्वभावी थी। राजमन्त्री का नाम श्रीभूति था, वह बड़ा कुटिल था, दूसरों को धोखा देना, उन्हें ठगना ही उसका प्रधान कर्म था।

एक दिन पद्मखण्डपुर के रहनेवाले सुमित्र सेठ का पुत्र समुद्रदत्त, श्रीभूति के पास आया और उससे बोला – 'महाशय, मैं व्यापार के लिये विदेश जा रहा हूँ। दैव की विचित्र लीला से न जाने कब समय कैसा आवे ? इसलिए मेरे पास ये पाँच रत्न हैं, इन्हें आप अपनी सुरक्षा में रखें तो अच्छा होगा और मुझ पर आपकी बड़ी दया होगी। मैं वापिस आकर अपने रत्न ले लूँगा।' यह कहकर और श्रीभूति को रत्न सौंपकर समुद्रदत्त चल दिया।

कई वर्ष बाद समुद्रदत्त विदेश से वापिस आया। वह बहुत धन कमाकर लाया था। जाते समय जैसा उसने सोचा था, दैव की प्रतिकूलता से वही घटना उसके भाग्य में घटित हो गयी। किनारे लगते-लगते जहाज फट पड़ा और सब माल समुद्र के विशाल उदर में समा गया। पुण्योदय से समुद्रदत्त को कुछ ऐसा सहारा

मिल गया, जिससे उसके प्राण बच गये। वह कुशलतापूर्वक अपना जीवन लेकर घर लौट आया।

दूसरे दिन वह श्रीभूति के पास गया और अपने पर जैसी विपत्ति आई थी, उसे आदि से अन्त तक कहकर श्रीभूति से अपने अमानत रखे हुए रत्न माँगे। श्रीभूति ने आँखें चढ़ाकर कहा – 'तू मुझसे कैसे रत्न माँगता है ? ज्ञात होता है कि जहाज डूब जाने से तेरा मस्तिक बिगड़ गया है।'

इस प्रकार श्रीभूति ने बेचारे समुद्रदत्त को मनमानी फटकार लगाकर अपने पास बैठे हुए लोगों से कहा – 'देखो, भाईयों ! मैंने आपसे अभी कहा था न कि कोई निर्धन मनुष्य पागल बनकर मेरे पास आवेगा और व्यर्थ का विसंवाद करेगा। वही सत्य निकला। जरा सोचिये तो, ऐसे दरिद्री व्यक्ति के पास रत्न कैसे हो सकते हैं ? भला, किसी ने भी इसके पास कभी रत्न देखे हैं ? यह व्यर्थ ही मेरे गले पड़ता है।' ऐसा कहकर उसने नौकरों द्वारा समुद्रदत्त को अपने घर से बाहर निकलवा दिया।

बेचारा समुद्रदत्त एक तो वैसे ही विपत्ति का मारा हुआ था, इसके सिवा उसे जो एक बड़ी भारी आशा थी, उसे भी पापी श्रीभूति ने नष्ट कर दिया। वह सब ओर से अनाथ होकर। निराशा के अथाह समुद्र में गोते खाने लगा। पहले तो उसे अच्छा होने पर भी श्रीभूति ने पागल बना डाला था, परन्तु अब वह सचमुच ही पागल हो गया। वह शहर में घूम-घूमकर चिल्लाने लगा कि पापी श्रीभूति ने मेरे पाँच रत्न ले लिये हैं, अब वह उन्हें देता नहीं है। राजमहल के पास भी उसने बहुत पुकार मचाई, पर उसकी कहीं

सुनाई नहीं हुई। सब उसे पागल समझकर दुत्कार देते थे। अन्त में निरुपाय हो उसने रानी के महल के पीछे स्थित एक वृक्ष पर चढ़कर, पिछली रात को बढ़े जोर से चिल्लाना आरम्भ किया। रानी ने बहुत दिनों तक तो उस पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। उसने भी यही समझ लिया कि कोई पागल चिल्लाता होगा किन्तु एक दिन उसे ख्याल हुआ कि वह पागल होता तो प्रतिदिन इसी समय आकर क्यों चिल्लाता ? सारे दिन ही इसी तरह आकर क्यों नहीं चिल्लाता फिरता ? इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। यह विचार कर उसने एक दिन राजा से कहा –

'प्राणनाथ ! आप इस चिल्लानेवाले को पागल बताते हैं, पर मेरी समझ में यह बात नहीं आती क्योंकि यदि वह पागल होता तो न तो बराबर इसी समय चिल्लाता और न सदा एक ही वाक्य बोलता। इसलिए इसका ठीक-ठीक पता लगाना चाहिए कि बात क्या है ? ऐसा न हो कि अन्याय से बेचारा एक गरीब बिना मौत मारा जाए।'

रानी के कथनानुसार राजा ने समुद्रदत्त को बुलाकर सब बातें पूछीं। समुद्रदत्त ने जैसी अपने पर बीती थी, वह ज्यों की त्यों महाराज से कह सुनाई। तब रत्न कैसे प्राप्त किये जाएँ ? इसकी राजा को चिन्ता हुई। रानी बड़ी बुद्धिमती थी; इसलिए रत्नों के मँगवा लेने की जिम्मेदारी उसने अपने ऊपर ले ली।

रानी ने एक दिन श्रीभूति को बुलाया और उससे कहा – 'मैं, आपकी शतरंज खेलने में बड़ी प्रशंसा सुना करती हूँ। मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि मैं एक दिन आपके साथ खेलूँ। आज बड़ा

अच्छा सुयोग मिला जो आप यहीं पर उपस्थित हैं।' यह कहकर उसने दासों को शतरंज ले आने की आज्ञा दी।

श्रीभूति, रानी की बात सुनते ही घबरा गया। उसके मुँह से एक शब्द तक निकलना मुश्किल पड़ गया। उसने बड़ी घबराहट के साथ काँपते-काँपते कहा – 'महारानीजी! आज आप यह क्या कह रही हैं। मैं एक क्षुद्र कर्मचारी और आपके साथ खेलूँ? यह मुझसे नहीं होगा। भला, राजा साहब सुनेंगे तो मेरा क्या हाल होगा?'

रानी ने कुछ मुस्कराते हुए कहा – 'वाह, आप तो बहुत डरते हैं। आप घबराइये मत। मैंने स्वयं राजा साहब से पूछ लिया है और फिर आप तो हमारे बुजुर्ग हैं, इसमें डर की बात ही क्या है? मैं तो केवल विनोदवश ही खेल रही हूँ।'

'राजा की मैंने स्वयं आज्ञा ले ली' जब रानी के मुँह से यह वाक्य सुना, तब श्रीभूति भी रानी के साथ खेलने के लिये तैयार हो गया।

दोनों का खेल आरम्भ हुआ। रानी के लिये खेल का तो केवल बहाना था; वस्तुतः तो उसे अपना प्रयोजन साधना था, इसीलिए उसने यह चाल चली थी। रानी ने खेलते-खेलते श्रीभूति को अपनी बातों में लुभाकर उसके घर की सब बातें जान ली और इशारे से अपनी दासी को कुछ बातें बतलाकर श्रीभूति के यहाँ भेज दिया।

दासी ने जाकर श्रीभूति की पत्नी से कहा – 'तुम्हारे पति बड़े कष्ट में फँसे हैं, इसलिए तुम्हारे पास उन्होंने जो पाँच रत्न रखे हैं, उन्हें लेने मुझे भेजा है। कृपा करके वे रत्न जल्दी दे दो, जिससे उनका छुटकारा हो सके।'

श्रीभूति की पत्नि ने उसे फटकार दिखला कर कहा – 'चल, मेरे पास कोई रत्न नहीं हैं और न मुझे कुछ ज्ञात है। जाकर उन्हीं से कह दे कि जहाँ रत्न रखे हों, वहाँ से तुम्हीं जाकर ले आओ।'

दासी ने लौटकर सब हाल अपनी मालकिन से कह दिया। रानी ने अपनी चाल का कुछ उपयोग नहीं हुआ देखकर दूसरी युक्ति निकाली। इस बार वह हार-जीत का खेल खेलने लगी। श्रीभूति ने पहले तो कुछ आनाकानी की, पर फिर 'रानी के पास धन का तो कुछ पार नहीं है और मेरी जीत होगी तो मैं मालामाल हो जाऊँगा' – यह सोचकर वह खेलने के लिए तैयार हो गया।

रानी बड़ी चतुर थी। उसने पहले ही पासे में श्रीभूति की एक कीमती अँगूठी जीत ली। उस अँगूठी को चुपके से दासी के हाथ देकर और कुछ समझाकर उसने श्रीभूति के घर भेज दिया और स्वयं उसके साथ खेलने लगी।

इस बार रानी का प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया। दासी ने पहुँचते ही बड़ी घबराहट के साथ कहा – 'देखो, पहले तुमने रत्न नहीं दिये, इससे उन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ा। अब उन्होंने यह अँगूठी देकर मुझे भेजा है और यह कहलाया है कि यदि तुम्हें मेरे प्राण प्रिय हों, तो इस अँगूठी को देखते ही रत्न दे देना और रत्न प्यारे हों तो मत देना, इससे अधिक मैं और कुछ नहीं कहता।'

अब तो पुरोहित-पत्नि एकदम घबरा गयी। उसने दासी से कुछ विशेष पूछताछ न करके केवल अँगूठी के भरोसे पर रत्न निकालकर दासी के हाथ सौंप दिये। दासी ने रत्नों को लाकर रानी को दे दिया और रानी ने उन्हें महाराज के पास पहुँचा दिया।

राजा को रत्न देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने रानी की बुद्धिमानी को बहुत–बहुत धन्यवाद दिया। इसके बाद उन्होंने समुद्रदत्त को बुलाया और उन रत्नों को अन्य बहुत से रत्नों में मिलाकर उससे कहा – 'देखो, इन रत्नों में तुम्हारे रत्न हैं क्या? और हों तो उन्हें निकाल लो।' समुद्रदत्त ने अपने रत्नों को पहचान कर निकाल लिया। सच है, बहुत समय बीत जाने पर भी अपनी वस्तु को कोई नहीं भूलता।

इसके बाद राजा ने श्रीभूति को राजसभा में बुलाया और रत्नों को उसके सामने रखकर कहा – 'कहिये, आप तो इस बेचारे के रत्नों को हड़पकर भी उल्टा इसे ही पागल बनाते थे न? यदि महारानी मुझसे आग्रह न करती और अपनी बुद्धिमानी से इन रत्नों को प्राप्त नहीं करती, तब यह बेचारा गरीब तो व्यर्थ मारा जाता और मेरे सिर पर कलङ्क का टीका लगता। क्या इतने उच्च अधिकारी बनकर मेरी प्रजा का इसी तरह तुमने सर्वस्व हरण किया है?'

राजा को बड़ा क्रोध आया। उसने अपने राज्य के कर्मचारियों से पूछा – 'कहो! इस महापापी को इसके पाप का क्या दण्ड दिया जाए, जिससे आगे के लिये सब सावधान हो जाएँ और इस दुरात्मा का जैसा भयङ्कर कर्म है, उसी के उपयुक्त इसके उसका दण्ड भी मिल जाए?'

राज्य कर्मचारियों ने विचार करके सबकी सम्मति मिलाकर कहा – 'महाराज! जैसा इन महाशय का नीच कर्म है, उसके योग्य हम तीन दण्ड उपयुक्त समझते हैं और उनमें से जो इन्हें पसन्द हो, वही ये स्वीकार करें।

(1) इन्हें एक सेर पक्का गोबर खिलाया जाए; (2) मल्ल के द्वारा बत्तीस घूँसे लगवाये जाएँ; या (3) सर्वस्थ हरणपूर्वक देश निकाला दे दिया जाए।'

राजा ने अधिकारियों के कहे अनुसार दण्ड की योजना कर श्रीभूति से कहा – 'तुम्हें जो दण्ड पसन्द हो, वह बतलाओ।'

पहले श्रीभूति ने गोबर खाना स्वीकार किया, परन्तु उसका एक ग्रास भी नहीं खाया गया। तब उसे मल्ल के घूँसे लगना आरम्भ हुआ। कुछ घूँसों की मार पड़ी होगी कि उसका आत्मा, शरीर का परित्यागकर चल बसा। उसकी मृत्यु महा आर्त्तध्यान से हुई और वह मरकर राजा के खजाने पर ही एक विकराल सर्प हुआ।

इधर समुद्रदत्त को इस घटना से बड़ा वैराग्य हुआ। उसने संसार की दशा देखकर उसमें अपने को फँसाना उचित नहीं समझा। वह उसी समय अपना सब धन परोपकार के कामों में लगाकर वन की ओर चल दिया और धर्माचार्य नाम के महामुनि से पवित्र धर्म का उपदेश सुनकर साधु बन गया। बहुत दिनों तक उसने तपश्चर्या की। इसके बाद आयु के अन्त में मृत्यु प्राप्त कर वह इन्हीं सिंहसेन राजा के सिंहचन्द्र नामक पुत्र हुआ।

❖ ❖ ❖

एक दिन राजा अपना खजाना देखने के लिये गया, उन्हें देखकर श्रीभूति के जीव को, जो कि खजाने पर सर्प हुआ था, बड़ा क्रोध आया। क्रोध के वश हो उसने महाराज को काट खाया। महाराज आर्त्तध्यान से मरकर सल्लकी नामक वन में हाथी हुए। राजा की सर्प द्वारा मृत्यु देखकर सुघोष मन्त्री को बड़ा क्रोध आया।

उसने अपने मन्त्रबल से बहुत से सर्पों को बुलाकर कहा – 'यदि तुम निर्दोष हो तो इस अग्निकुण्ड में प्रवेश करते हुए अपने-अपने स्थान पर चले जाओ। तुम्हें ऐसा करने से कुछ भी कष्ट न होगा।' जितने बाहर के सर्प आये थे वे सब तो चले गये। अब श्रीभूति का जीव बाकी रह गया। उससे कहा गया कि 'या तो तू विष खींचकर महाराज को छोड़ दे या इस अग्निकुण्ड में प्रवेश कर।' वह महाक्रोधी था, अतः उसने अग्निकुण्ड में प्रवेश करना अच्छा समझा, पर विष खींच लेना उचित नहीं समझा। वह क्रोध के वश हो अग्नि में प्रवेश कर गया। प्रवेश करते ही वह देखते-देखते जलकर खाक हो गया। जिस सल्लकी वन में महाराज का जीव हाथी हुआ था, वह सर्प भी मरकर उसी वन में मुर्गा हुआ।

सच है, पापियों का कुयोनियों में उत्पन्न होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इधर तो ये सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार दूसरे भवों में उत्पन्न हुए और उधर सिंहसेन की रानी पति-वियोग से बहुत दुःखी हुई। उसे संसार की क्षणभंगुर लीला देखकर वैराग्य हुआ। वह उसी समय संसार का मायाजाल तोड़-ताड़कर वनश्री आर्यिका के पास साधवी बन गई। सिंहसेन का पुत्र सिंहचन्द्र भी वैराग्य के वश हो, अपने छोटे भाई पूर्णचन्द्र को राज्यभार सौंपकर, सुव्रत नामक मुनिराज के पास दीक्षित हो गया। साधु होकर सिंहचन्द्र मुनि ने महा तपश्चर्या की, शान्ति और धीरता के साथ परीषहों पर विजय प्राप्त किया, इन्द्रियों को वश में किया और चंचल मन को दूसरी ओर से रोककर ध्यान की ओर लगाया। अन्त में ध्यान के बल से उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्राप्त हुआ। उन्हें मनःपर्ययज्ञान से

युक्त देखकर उनकी माता ने, जो कि इन्हीं के पहले आर्यिका हुई थीं, नमस्कार कर पूछा – 'साधुराज! मेरी कूँख धन्य है, वह आज कृतार्थ हुई, जिसने आपसे पुरुषोत्तम को धारण किया। पर अब यह तो कहिये कि आपके छोटे भाई पूर्णचन्द्र, आत्महित के लिये कब उद्यत होंगे?'

उत्तर में सिंहचन्द्र मुनि बोले – 'माता! सुनो, मैं तुम्हें संसार की विचित्र लीला सुनाता हूँ, जिसे सुनकर तुम भी आश्चर्य करोगी। तुम जानती हो कि पिताजी को सर्प ने काटा था और उसी से उनकी मृत्यु हो गयी थी। वे मरकर सल्लकी वन में हाथी हुए। वे ही पिता एक दिन मुझे मारने के लिये मुझ पर झपटे, तब मैंने उस हाथी को समझाया और कहा – 'गजेन्द्रराज, जानते हो, तुम पूर्व जन्म में राजा सिंहसेन थे और मैं प्राणों से भी प्यारा सिंहचन्द्र नाम का तुम्हारा पुत्र था। कैसा आश्चर्य है कि आज पिता ही पुत्र को मारना चाहता है।' मेरे इन शब्दों को सुनते ही गजेन्द्र को जातिस्मरण हो आया और पूर्व जन्म की स्मृति हो गयी। वह रोने लगा, उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। उसकी यह अवस्था देखकर मैंने उसे जिनधर्म का उपदेश दिया और पंचाणुव्रत का स्वरूप समझाकर उसे अणुव्रत ग्रहण करने को कहा। उसने अणुव्रत ग्रहण किये और पश्चात् वह प्रासुक भोजन और प्रासुक जल से अपना निर्वाह कर व्रत का दृढ़ता के साथ पालन करने लगा।

एक दिन वह जल पीने के लिये नदी पर पहुँचा। जल के भीतर प्रवेश करते समय वह कीचड़ में फँस गया। उसने निकलने

की बहुत चेष्टा की, पर वह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। अपना निकलना असम्भव समझकर, उसने समाधिमरण की प्रतिज्ञा ले ली। उस समय श्रीभूति का जीव, जो मुर्गा हुआ था, हाथी के सिर पर बैठकर उसका माँस खाने लगा। हाथी पर बड़ा उपसर्ग आया, परन्तु उसने उसकी कुछ परवाह न करके बड़ी धीरता के साथ पञ्च नमस्कार मन्त्र की आराधना करना शुरु कर दिया, जो कि सब पापों का नाश करनेवाला है। आयु के अन्त में शान्ति के साथ मृत्यु प्राप्त कर वह सहस्रारस्वर्ग में देव हुआ। सच ही है, धर्म के सिवाय और कल्याण का कारण हो ही क्या सकता है ?

वह मुर्गा भी बहुत कष्टों को सहन कर मरा और तीव्र पापकर्म के उदय से चौथे नरक में जाकर उत्पन्न हुआ, जहाँ अनन्त दुःख हैं और जब तक आयु पूर्ण नहीं होती, तब तक पलक गिराने, मात्र भी सुख प्राप्त नहीं होता।

सिंहसेन का जीव, जो हाथी हुआ था, उसके दाँत और कपोलों में से निकले हुए मोती, एक भील के हाथ लगे। भील ने उन्हें एक धनमित्र नामक साहूकार के हाथ बेच दिये और धनमित्र ने उन्हें सर्वश्रेष्ठ और कीमती समझकर राजा पूर्णचन्द्र को भेंट कर दिये। राजा देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उनके बदले में धनमित्र को खूब धन दिया। इसके बाद राजा ने दाँतों के तो अपने पलङ्ग के पाये बनवाये और मोतियों का रानी के लिये हार बनवा दिया। इस समय वे विषयसुख में मग्न होकर अपना काल बिता रहे हैं। यह संसार की विचित्र दशा है। क्षण-क्षण में क्या होता है ? – इसे ज्ञानी के अलावा कोई नहीं जान पाता और इसी से जीवों को संसार के

दुःख भोगना पड़ते हैं। माता, पूर्णचन्द्र के कल्याण का एक मार्ग है, यदि तुम जाकर उपदेश दो और यह सब घटना उसे सुनाओ तो वह अवश्य अपने कल्याण की ओर दृष्टि देगा।'

❖ ❖ ❖

मुनिराज सिंहचन्द्र के वचन सुनते ही वह उठकर पूर्णचन्द्र के महल में पहुँची। अपनी माता को देखते ही पूर्णचन्द्र ने बड़े विनय से उसका सत्कार करके उनके लिये पवित्र आसन प्रदान किया और हाथ जोड़कर बोले – 'माताजी! आपने अपने पवित्र चरणों से इस घर को पवित्र किया, उससे मुझे जो प्रसन्नता हुई, वह वचनों द्वारा नहीं कही जा सकती। मैं अपने जीवन को सफल समझूँगा, यदि मुझे आप अपनी आज्ञा का पात्र बनावेंगी।'

वह बोली – 'मुझे एक आवश्यक बात की ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित करना है; इसीलिए मैं यहाँ आई हूँ और वह बड़ी विलक्षण बात है, सुनते हो न?' जिनचन्द्र के हाँ कहने पर आर्यिका ने यों कहना आरम्भ किया –

'पुत्र! जानते हो, तुम्हारे पिता को सर्प ने काटा था, उसकी वेदना से मरकर वे सल्लकी वन में हाथी हुए और वह सर्प मरकर उसी वन में मुर्गा हुआ। एक दिन हाथी जल पीने गया। वह नदी के किनारे अत्यन्त गहरे कीचड़ में फँस गया। वह उसमें से किसी तरह निकल नहीं सका। अन्त में निरुपाय होकर वह मर गया। उसके दाँत और मोती एक भील के हाथ लगे। भील ने उन्हें एक सेठ के हाथ बेच दिये। सेठ के द्वारा वे ही दाँत और मोती तुम्हारे पास आये। तुमने दाँतों के तो पलङ्ग के पाये बनवाये और मोतियों का अपनी पत्नी के लिये हार बनवाया। यह संसार की विचित्र

लीला है। इसके बाद तुम्हें उचित जान पड़े सो करो।' आर्यिकाजी इतना कहकर चुप हो गयी।

पूर्णचन्द्र अपने पिता की कथा सुनकर एक साथ रो पड़े। उनका हृदय पिता के शोक से संतृप्त हो उठा। जैसे दावाग्नि से पर्वत संतृप्त हो उठता है। उनके रोने के साथ ही सारे अन्तःपुर में हाहाकार मच गया। उन्होंने पितृप्रेम के वश हो उन पलङ्ग के पायों को छाती से लगाया। इसके बाद उन्होंने पलङ्ग के पायों और मोतियों को चन्दनादि से पूजा कर उन्हें जला दिया। ठीक है, मोह के वश होकर यह जीव क्या-क्या नहीं करता?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मोह का चक्र जब अच्छे-अच्छे महात्माओं पर भी चल जाता है, तब पूर्णचन्द्र पर उसका प्रभाव पड़ना कोई आश्चर्य का कारण नहीं है। पूर्णचन्द्र बुद्धिमान् थे, उन्होंने झट से अपने को सम्हाल लिया और पवित्र श्रावकधर्म को ग्रहण कर बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ उनका पालन करने लगे। फिर आयु के अन्त में वे पवित्र भावों से मृत्यु प्राप्त कर महाशुक्र नामक स्वर्ग में देव हुए। उनकी माता भी अपनी शक्ति के अनुसार तपश्चर्या कर उसी स्वर्ग में देव हुई। सच है, संसार में जन्म लेकर कौन-कौन काल के ग्रास नहीं बने? मनःपर्ययज्ञान के धारक सिंहचन्द्र मुनि भी तपश्चर्या और निर्मल चारित्र के प्रभाव से मृत्यु प्राप्त कर ग्रैवेयक में जाकर देव हुए।

❖ ❖ ❖

भारतवर्ष के अन्तर्गत सूर्याभपुर नामक एक शहर था। उसके राजा का नाम सुरावर्त था। वे बड़े बुद्धिमान् और तेजस्वी थे। उनकी महारानी का नाम था यशोधरा। वह बड़ी सुन्दरी, बुद्धिमती,

सती, सरल स्वभाववाली और विदुषी थी। वह सदा दान देती, जिन भगवान् की पूजा करती और बड़ी श्रद्धा के साथ उपवासादि करती थी।

सिंहसेन राजा का जीव, जो हाथी की पर्याय से मरकर स्वर्ग गया था, यशोधरा रानी का पुत्र हुआ। उसका नाम था रश्मिवेग। कुछ दिनों बाद महाराज सुरावर्त तो राज्यभार रश्मिवेग को सौंपकर साधु बन गये और राज्यकार्य रश्मिवेग चलाने लगा।

एक दिन की बात है कि धर्मात्मा रश्मिवेग, सिद्धकूट जिनालय की वन्दना के लिये गया। वहाँ उसने एक हरिचन्द्र नाम के मुनिराज को देखा, उनसे धर्मोपदेश सुना। धर्मोपदेश का उसके चित्त पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसे बहुत वैराग्य हुआ। संसार, शरीर, भोगादि से उसे अत्यन्त उदासीनता हुई। उसने उसी समय मुनिराज से जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

एक दिन रश्मिवेग महामुनि एक पर्वत की गुफा में कायोत्सर्ग धारण किये हुए थे कि एक भयानक अजगर ने, जो कि श्रीभूति का जीव सर्पपर्याय से मरकर चौथे नरक गया था और वहाँ से आकर यह अजगर हुआ, उन्हें काट खाया। मुनिराज तब भी ध्यान में निश्चल खड़े रहे, जरा भी विचलित नहीं हुए। अन्त में मृत्यु प्राप्त कर समाधिमरण के प्रभाव से वे कापिष्ठस्वर्ग में जाकर आदित्यप्रभ नामक महर्द्धिक देव हुए, जो कि सदा जिनभगवान् के चरणकमलों की भक्ति में लीन रहते थे और वह अजगर मरकर पाप के उदय से फिर चौथे नरक गया। वहाँ उसे नारकियों ने कभी तलवार से काटा तो कभी करौती से; कभी उसे अग्नि में जलाया तो कभी घानी में पेला; कभी अतिशय गरम तेल की कढ़ाई में डाला तो

कभी लोहे के गरम खम्भों से आलिङ्गन कराया। तात्पर्य यह है कि नरक में उसे घोर दुःख भोगने पड़े।

❖ ❖ ❖

चक्रपुर नाम का एक सुन्दर शहर था। उसके राजा थे चक्रायुध और उनकी महारानी का नाम चित्रादेवी था। पूर्वजन्म के पुण्य से सिंहसेन राजा का जीव स्वर्ग से आकर इनका पुत्र हुआ। उसका नाम वज्रायुध था। जिनधर्म पर उसकी बड़ी श्रद्धा थी। जब वह राज्य करने को समर्थ हो गया, तब महाराज चक्रायुध ने राज्य का भार उसे सौंपकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। वज्रयुध, सुख और नीति के साथ राज्य का पालन करने लगे। उन्होंने बहुत दिनों तक राज्यसुख भोगा। पश्चात् एक दिन किसी कारण से उन्हें भी वैराग्य हो गया। वे अपने पिता के समीप दीक्षा लेकर साधु बन गये। वज्रयुध मुनि एक दिन पियंगु नामक पर्वत पर कायोत्सर्ग धारण कर रहे थे; इतने में एक दुष्ट भील ने, जो कि सर्प का जीव चौथे नरक गया था और वहाँ से अब यही भील हुआ, उन्हें बाण से मार दिया। मुनिराज तो समभावों से प्राण त्याग कर सर्वार्थसिद्धि गये और वह भील रौद्रभाव से मरकर सातवें नरक गया।

सर्वार्थसिद्धि से आकर वज्रायुध का जीव जो संजयन्त हुआ, जो संसार में प्रसिद्ध है और पूर्णचन्द्र का जीव उनका छोटा भाई जयन्त हुआ। वे दोनों भाई छोटी ही अवस्था में कामभोगों से विरक्त होकर पिता के साथ मुनि हो गये और वह भील का जीव सातवें नरक से निकल कर अनेक कुगतियों में भटका। उनमें उसने बहुत कष्ट सहा। अन्त में वह मरकर ऐरावत क्षेत्रान्तर्गत भूतरमण नामक वन में बहनेवाली वेगवती नाम की नदी के किनारे

पर गोशृङ्गतापस की शंखिनी नाम की स्त्री के हरिणशृङ्ग नामक पुत्र हुआ। वही पञ्चाग्नि तप तपकर वह विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर हुआ है, जिसने कि संजयन्त मुनि पर पूर्वजन्म के बैर से घोर उपसर्ग किया और उनके छोटे भाई जयन्त मुनि, निदान करके जो धरणेन्द्र हुए, वे तुम हो।

संजयन्त मुनि पर पापी विद्युद्दंष्ट्र ने घोर उपसर्ग किया, तब भी वे पवित्रात्मा रञ्चमात्र विचलित नहीं हुए और सुमेरु के समान निश्चल रहकर उन्होंने सब परीषहों को सहा और सम्यक्तप का उद्योत कर अन्त में मोक्ष प्राप्त किया। वहाँ उनके अनन्त ज्ञानादि स्वाभाविक गुण प्रगट हुए। वे अनन्त काल तक मोक्ष में ही रहेंगे। अब वे संसार में नहीं आवेंगे।''

❖ ❖ ❖

दिवाकर ने कहा – 'नागेन्द्रराज! यह संसार की स्थिति है। इसे देखकर इस बेचारे पर तुम्हें क्रोध करना उचित नहीं है। इसे दया करके छोड़ दीजिये।' यह सुनकर धरणेन्द्र बोला – 'मैं आपके कहने से इसे छोड़ देता हूँ परन्तु मनुष्यपर्याय में इसे कभी विद्या की सिद्धि न हो।' इसके बाद धरणेन्द्र अपने भाई संजयन्त मुनि के मृतशरीर की बड़ी भक्ति के साथ पूजा कर अपने स्थान पर चला गया।

इस प्रकार उत्कृष्ट तपश्चर्या करके श्रीसंजयन्त मुनि ने अविनाशी मोक्षश्री को प्राप्त किया। ●● *(आराधना कथाकोश से)*

11

उपसर्गजयी कार्तिकेय मुनि

कार्तिकपुर के राजा का नाम अग्निदत्त था। उसकी पत्नी का नाम वीरवती था, दोनों के कृतिका नाम की पुत्री थी। एक बार कृतिका ने अष्टाह्निका महापर्व में आठ दिन का व्रत धारण किया। अन्तिम दिन वह भगवान की पूजा में लगी रही। जब पूजा समाप्त हुई, तब वह प्रसन्नतापूर्वक अपने पिता के समीप आयी। पुत्री की अनुपम सुन्दरता देखकर उसका पिता अग्निदत्त कामातुर हो गया। राजा अग्निदत्त ने कुछ अन्य धर्मी तथा जैन साधुओं को बुलाकर पूछा – 'हे नरश्रेष्ठ! मेरे घर में उत्पन्न हुए रत्न का उपभोग मैं कर सकता हूँ या अन्य कोई?' समस्त मनुष्यों ने एक ही स्वर में कहा – 'राजन! उस रत्न के स्वामी आप ही हो सकते हो', किन्तु विशिष्ट प्रज्ञा के धनी जैन साधुओं ने विचार करके कहा – 'राजन्! तुम्हारे घर में उत्पन्न रत्न के स्वामी तो तुम ही हो सकते हो परन्तु कन्यारत्न के स्वामी कदापि नहीं हो सकते।'

राजा तो कामी था ही, उसने अपने अभिप्राय के प्रतिकूल उत्तर पाकर, क्रोधित होकर जैन मुनियों को देश से बाहर निकाल दिया। अरे...रे! इस विषयाभिलाषा को धिक्कार है! जहाँ एक पिता ही अपनी पुत्री को कामवासना की दृष्टि से देखता है! रे

संसार !! तत्पश्चात् राजा अग्निदत्त ने अपनी ही कन्या से विवाह कर लिया। सत्य है – कामान्ध मनुष्यों में धर्म, बुद्धि, नीति, सदाचार को स्थान कहाँ ?

कुछ वर्षों के बाद कृतिका के गर्भ से एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुए। पुत्र का नाम कार्तिकेय और पुत्री का नाम वीरमती रखा गया। वीरमती अत्यन्त सुन्दर थी। उसका विवाह राजा कौंच के साथ सम्पन्न हुआ। वह रोहड़नगर का अधिपति था। वीरमती वहाँ जाकर सुखपूर्वक रहने लगी। तब तक कार्तिकेय भी चौदह वर्ष का किशोर हो गया था।

एक दिन कार्तिकेय अपने साथी अन्य राजकुमारों के साथ खेल रहा था। उन राजकुमारों ने अपने ननिहाल से आये हुए वस्त्राभूषण पहने हुए थे। जब कार्तिकेय ने पूछा तो पता पड़ा कि ये वस्त्राभूषण उनके नाना के यहाँ से आये हैं। यह सुनकर कार्तिकेय को दुःख हुआ। उसने घर जाकर अपनी माँ से पूछा – 'हे माँ! मेरे साथियों के लिए तो उनके नाना–मामा सुन्दर वस्त्र और आभूषण भेजते हैं, तो मेरे नाना–मामा मेरे लिए वस्त्राभूषण क्यों नहीं भेजते ?'

अपने प्रिय पुत्र के मुख से ऐसी बात सुनकर कृतिका का हृदय दुःखी हो गया और उसकी आँखों से आँसूओं की धारा बहने लगी। वह इस कोमल बालक को क्या कहकर सन्तोष दे – यह उसकी समझ में नहीं आया। अतः उसने हारकर सत्य घटना कह सुनाई। रोते–रोते उसने कहा – 'बेटा! इस घोर पाप की बात मैं तुझसे किस प्रकार कहूँ ? कहते हुए भी मेरे हृदय के टुकड़े–टुकड़े हो जाते हैं।

हे पुत्र! तेरे जन्म सम्बन्धी एक असम्भव घटना है। जो मेरे पिता हैं, वे ही तेरे भी पिता हैं। मेरे पिता ने कामातुर होकर बलजोरी से मेरे साथ विवाह कर लिया। उन्होंने मेरे पवित्र जीवन में कलंक लगा दिया। तू उसका ही फल है।'

अपनी माता के मुख से यह बात सुनकर कार्तिकेय सुन्न हो गया। लज्जा और ग्लानि से उसका कोमल हृदय क्षोभित हो उठा... परन्तु यह तो बीती हुई घटना थी, जो अब अपरिवर्तनीय है।

खिन्न हृदय कार्तिकेय ने माँ से पूछा – 'माँ! ऐसा अनर्थ करते हुए मेरे पिता का किसी ने विरोध नहीं किया? क्या सबकी आँखें बन्द थी?'

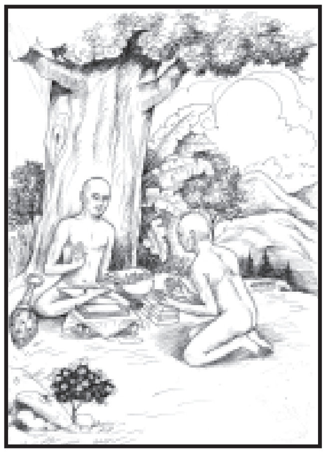

माँ ने कहा – 'बेटा! सबने विरोध किया, जैन मुनियों ने विरोध किया, परन्तु मेरे पिता ने मुनियों को देश से बाहर निकाल दिया।

कार्तिकेय फिर पूछने लगा – 'माँ! वे गुणवान जैन महामुनि कैसे होते हैं?'

माँ ने कहा – 'बेटा! वे शान्तचित्त होते हैं, किसी से लड़ाई–झगड़ा नहीं करते; कोई गाली दे तो भी उन्हें क्रोध नहीं आता। बेटा! वे महान पण्डित होते हैं, उनके पास धन–सम्पत्ति तो क्या? एक कोढ़ी भी वे नहीं रखते और उनके पास वस्त्र का एक डोरा भी नहीं होता। चाहे सर्दी हो या गर्मी या वर्षा – वे हमेशा एक समान रहते हैं। कोमल आकाश ही उनका वस्त्र है। वे नग्न

दिगम्बर होते हैं। स्वप्न में भी कभी किसी को दुःख नहीं देते। वे जीव-दया के लिए हमेशा मोरपिच्छी रखते हैं, जिससे बैठने के लिए जगह साफ / जीवरहित करते हैं। एक लकड़ी का कमण्डलु, जिसमें शौचादि के लिए प्रासुक जल रखते हैं। यद्यपि वे भिक्षा (आहार) के लिए श्रावक के घर जाते हैं परन्तु माँगते नहीं। यदि कोई आहार नहीं कराता तो वापस तपोवन में आ जाते हैं। कभी -कभी 15-15 दिन के उपवास कर लेते हैं। बेटा! मैं उनके आचार-विचार सम्बन्धी बातें क्या कहूँ? तू समझ ले कि संसार के समस्त साधुओं में ये साधु सच्चे हैं।'

अपनी माता द्वारा जैन साधुओं की प्रशंसा सुनकर कार्तिकेय को उनके प्रति अपार श्रद्धा हो गयी। अपने पिता के दुष्कृत्य को जानकर उसे वैराग्य तो पहले ही हो गया था, अब माता का उपदेश सुनकर वह अधिक अटल हो गया। वह समस्त मोह ममता का परित्याग करके उसी समय घर से निकल गया और मुनियों के स्थान तपोवन में जा पहुँचा। वहाँ मुनियों का संघ देखकर उसे अपार प्रसन्नता हुई और उसने मुनियों को प्रणाम करते हुए दीक्षा के लिए प्रार्थना की। संघ के आचार्य ने उसे दीक्षा देकर मुनि बना दिया। थोड़े ही दिनों में तो कार्तिकेय मुनि, विद्याभ्यास करके महाविद्वान् हो गये।

कार्तिकेय की माता ने मुनियों की प्रशंसा तो की थी परन्तु उसे यह पता नहीं था कि उसके पुत्र पर इसका ऐसा असर होगा और वह भी दीक्षा ले लेगा। जब उसे ज्ञात हुआ कि कार्तिकेय मुनि हो गया है तो उसे बहुत दुःख हुआ। वह कार्तिकेय के पास जाकर बहुत रोई, आँसू बहाये, परन्तु वह उन्हें डगमगा नहीं सकी। पुत्र के

वियोग से उसका स्वास्थ्य खराब होने लगा और अन्त में पुत्र –वियोग से उसका मरण हो गया। वह पुत्र के आर्त्तध्यान से मरकर व्यन्तर देवी हुई।

❖ ❖ ❖

एक बार विहार करते हुए कार्तिकेय मुनि रोहड़नगर जा पहुँचे। यहीं उनकी बहन का विवाह हुआ था। ज्येष्ठ का महिना था, अत्यन्त तीव्र गर्मी पड़ रही थी। अमावश्या के दिन कार्तिकेय मुनि, आहारचर्या के लिए नगर में गये। वे राजमहल के नीचे से जा रहे थे कि महल में बैठी वीरमती की नजर मुनि पर जा पड़ी। वह दौड़कर भाई के पास आयी और प्रेमवश उनके चरणों में गिर पड़ी। जब राजा कौंच ने देखा कि रानी एक नङ्गे भिखारी के चरणों में पड़ी है तो वह महाक्रोधित हुआ। वह आकर मुनि को मारने के लिये उन पर प्रहार करने लगा; जिससे मुनि मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। अरे रे! पापी, मिथ्यात्वी तथा जैनधर्म का विरोधी जीव क्या नीच कर्म नहीं करता?

कार्तिकेय को मूर्च्छित अवस्था में देखकर उनकी माँ, जो इस जन्म में व्यन्तरी हुई है, वह एक मोरनी का रूप धारण करके उनके समीप आयी और उसने अत्यन्त यत्नपूर्वक कार्तिकेय मुनि को उठाकर शीतलनाथ भगवान के मन्दिर में छोड़ दिया। मुनि की अवस्था खराब हो गयी थी। सचेत होने के बाद उन्होंने समाधि ले ली। जब वे शरीर को त्यागकर स्वर्गधाम पधारे तो देवों ने आकर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा की। उस दिन से उस स्थान का नाम कार्तिकेय तीर्थ रखा। वे वीरमती के भाई थे, अतः 'भाई दूज' के नाम से दूसरा पर्व प्रसिद्ध हुआ। ●●

(आराधना कथाकोश से)

12

भाव-परिवर्तन

कौशाम्बी नगरी में एक प्रसिद्ध कलाकार था, उसका नाम अङ्गारक था। वह अत्यन्त कुशल कलाकार होने के साथ ही धर्म का प्रेमी और उदार भी था। कला के साथ इन दो गुणों के कारण उसकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गये थे। उसका मुख्यत: कार्य आभूषणों में कीमती हीरा-माणिक-मोती जड़ना था और इस कार्य में वह अत्याधिक दक्ष था। कीमती रत्नों से तो वह अपने जीवन को अनेक बार अलंकृत कर चुका था परन्तु रत्नत्रयरूपी रत्नों से अपने आत्मा को अभी तक अलंकृत नहीं कर पाया था।

★ ★ ★

आज कलाकार का निवास स्थान पद्मरागमणि की रक्तप्रभा (लाल किरणों) से जगमग-जगमग हो रहा था। उस पद्ममणि के सामने नजर जमाकर वह विचार कर रहा था -

'इस कीमती मणि को आभूषण में किस प्रकार जड़ना चाहिए ? क्योंकि यह कोई साधारण रत्न नहीं है, यह तो कौशाम्बी के महाराजा गन्धर्वसेन के आभूषण में जड़ने के लिए आया हुआ महा मूल्यवान पद्मरागमणि है। मेरी कला पर विश्वास करके महाराज ने यह काम

मुझे सौंपा है। अतः आभूषण में वह इस प्रकार जड़ा जाए कि उसकी शोभा एकदम खिल उठे।'

इस विचार से कलाकार उस पद्ममणि को क्षण में आभूषण के इस तरफ, क्षण में उस तरफ और क्षण में बीच में जोड़कर देखता; इस प्रकार घुमाते-घुमाते बहुत परिश्रम के बाद जब उसके मनपसन्द स्थान पर वह मणि शोभित हो गयी, तब उसकी शोभा देखकर उसका मन हर्ष से गद्‌गद् हो गया।

वह विचारने लगा – 'वाह! मेरी कला का यह एक सर्वोत्तम नमूना बनेगा और महाराज भी इसे देखकर अत्यन्त प्रसन्न होंगे।'

इस प्रकार सन्तोष की श्वाँस लेकर जब उसने अपना मस्तक ऊपर उठाया तो देखता है कि उसके घर के आँगन के सामने से एक नग्न दिगम्बर मुनिराज गमन कर रहे हैं।

'मानो उनकी आँखों से परम शान्तरस की वर्षा हो रही हो... मानो उनकी भव्य मुद्रा पर वीतरागता छा गयी हो... मानो उनके समस्त पाप गल गये हों... अहो! उनके आत्मा की पवित्रता की क्या बात कहना? अरे! उनके तो चरणों से स्पर्शित धूल भी इतनी पवित्र है कि असाध्य रोगों को दूर कर दे। उनके दर्शनमात्र से मानवों का मन पवित्र हो जाता है और उनके हृदय का पाप धुल जाता है। इन रत्नत्रयधारक योगीराज के आत्मतेज के सामने इस पद्‌मरागमणि का तेज भी फीका लग रहा है।'

– ऐसे चारणऋद्धिधारी महामुनिराज, गोचरीवृत्ति से आहारदान हेतु गमन कर रहे हैं... उन्हें देखकर अङ्गारक शीघ्र ही उनके समीप गया और उनके चरण कमलों पर झुक गया...तथा अनायास ही उसके मुख से उद्‌गार निकलने लगे –

'अहो! आज मेरे भाग्य खिल उठे...आज मैं कृतार्थ हो गया... हे प्रभु! हे मुनिराज! आपके चरण-कमलों की धूल से आज में पावन हो गया... मेरा घर भी पवित्र हो गया... मेरे भव-भव के पाप नष्ट हो गये। हे नाथ! पधारो... पधारो... पधारो...।'

इस प्रकार मुनिराज का पड़गाहन करके नवधाभक्तिपूर्वक अङ्गारक ने आहारदान दिया। आहारदान के समय मुनिभक्ति में वह इतना तल्लीन था कि घर में इस बीच क्या घटना घटित हो गयी, उसे कुछ पता नहीं चला। आहार के बाद महामुनिराज तो वापिस वन में चले गये और आत्मध्यान में लीन हो गये। ऐसे महान पवित्रात्मा शुद्धोपयोगी, साधु शिरोमणि को आहार देने से आज अङ्गारक कृतार्थ हो गया था... धन्य हो गया था... उसका चित्त अत्यन्त प्रसन्न था।

आहारदान के बाद वह कलाकार आभूषण में पद्मरागमणि को जड़ने हेतु जब वापस आया तो क्या देखता है...

'अरे! यह क्या हुआ? पद्मरागमणि गुम! नहीं...नहीं...ऐसा नहीं हो सकता।' उसने पूरा घर छान मारा परन्तु पद्मरागमणि नहीं मिली, अतः उसकी आँखों के सामने अन्धेरा छा गया... उसका दिमाग मानो चक्कर खाने लगा... 'अरे! परन्तु इतनी सी देर में यह पद्मरागमणि गयी कहाँ? क्या उसके पंख लग गये थे, जो वह उड़

गयी ? क्या कोई उसे चोरी करके ले गया ? नहीं... यहाँ घर में मुनिराज के अलावा तो कोई आया ही नहीं... फिर यह मणि गयी तो गयी कहाँ ?' उसकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि यह मणि एकाएक कहाँ गुम हो गयी ?

पद्ममणि के गुम हो जाने से अङ्गारक व्याकुल होकर घर में यहाँ-वहाँ घूमले लगा... कुछ समय पूर्व मणि के तेज से जगमगाते उसके घर में अब अन्धकार छा गया था... मानो पृथ्वी काँपने लगी थी... मणि के चले जाने से मानो उसकी अपनी प्रतिष्ठा भी चली गयी – ऐसा उसे लगा। उसे चिन्ता हो रही थी कि अब महाराज को क्या जबाब देगा ? हे भगवान ! अब क्या होगा ? निराशा से घिरा हुआ वह एकाएक क्रोध से लाल-पीला हो गया। बस, चाहे जो हो जाए परन्तु वह मणि का पता लगाकर ही रहेगा। तब उसके मन में ऐसा दुर्विचार आया –

'अरे ! अभी-अभी ज्ञानसागर मुनिराज को आहारदान देने के समय मणि को इस पेटी पर रखा था... और वे मुनिराज आहार करके वापस जाते हैं तो मणि गुम हो जाती है, इस बीच उनके अलावा अन्य कोई व्यक्ति मेरे घर आया ही नहीं... इसलिए... ? इसलिए... हो न हो, जरूर मुनिराज का ही इसमें हाथ होना चाहिए, बस ! निर्णय हो गया !!'

उपरोक्त विचार आते ही जिन योगीराज के प्रति एक क्षण पहले अङ्गारक को अत्यन्त भक्ति और श्रद्धा का अगाध समुद्र उछल रहा था, अब उन्हीं मुनिराज के प्रति भयङ्कर क्रोध से अङ्गारक अङ्गारे के समान बन गया...।

'निश्चित ही वे मुनिराज नहीं थे; बल्कि मुनि के वेष में कोई चोर होंगे... उस ढ़ोगी का ही यह काम लगता है।'

फिर भी अभी-अभी देखी उन वीतरागी मुनिराज की भव्य मुद्रा और हृदय में विद्यमान जैनधर्म के प्रति अतिशय भक्ति, इन दोनों के कारण कलाकार के अन्तरङ्ग से आवाज आई -

'अरे अंगारक! यह क्या? क्या तू पागल हो गया है? जिन्होंने इन्द्रतुल्य वैभव को छोड़ दिया... और संसार को तृणतुल्य जानकर उसका त्याग कर दिया; जगत् के पदार्थों में इष्ट -अनिष्टबुद्धि को छोड़कर जो बहुत आगे बढ़ गये हों - क्या वे महामुनिराज तेरा पत्थर का टुकड़ा चुरायेंगे? सम्यग्दर्शन -सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र - ऐसे विश्व-वन्दनीय रत्नों से जिनका आत्मा शोभायमान है, क्या वे इस जड़रत्न में मोहित होंगे? अरे! जिन्होंने स्वात्मा में स्थित चैतन्यमणि प्राप्त कर लिया है, वे इस अचेतनमणि का क्या करेंगे?'

क्षणमात्र के लिए तो उसे विचार आया परन्तु जब मणि का ध्यान आया तो फिर उसके चित्त में प्रश्न उठा -

'यदि मुनिराज ने उसे नहीं चुराया तो वह गयी कहाँ?'

मणि के मोह में पागलवत् होकर उसने अन्त ही यह निश्चय किया -

'नहीं... नहीं... वे कोई मुनि नहीं, अपितु मायावी हैं और उनका ही यह काला काम है। इस ठग मायावी ने मन्त्रादिक के प्रभाव से मणि चुराकर कहीं छिपा दिया होगा... परन्तु मुझसे बचकर वह कहाँ जाएगा? मुनिवेष में रहकर ऐसे काम करता है

– उसे तो मैं ऐसी शिक्षा दूँगा कि जिन्दगी भर याद रखेगा। चाहे जहाँ से मैं उसे पकड़कर लाऊँगा।'

– ऐसा दृढ़ निश्चय करके, क्रोध से अत्यन्त उत्तेजित होकर कलाकार अंगारक ने मुनि को खोजने के लिए उपवन की और तीव्र गति से गमन किया।

★ ★ ★

उधर एकान्त शान्त उपवन में श्री ज्ञानसागर महाराज आत्मध्यान में निमग्न हैं। वे जगत के मायाजाल से बहुत दूर, संसार के विषम वातावरण से पार और परम अनन्त सुखमय सिद्ध भगवन्तों के एकदम पास रह रहे हैं.... अनन्त सुखमय आत्मा के ध्यान में वे सम्पूर्णतः एकाग्र होते जा रहे हैं।

तभी क्रोध से आगबबूला होता हुआ अंगारक हाथ में लाठी लेकर मुनिराज को ढूँढने दौड़ता हुआ आ रहा है... ध्यानस्थ मुनिराज को दूर से देखते ही वह गरजा –

'अरे पाखण्डी! जल्दी बोल!! बता, मेरी मणि कहाँ है?'

परन्तु जवाब कौन दे? मुनिराज तो ध्यानस्थ हैं। यद्यपि वे मुनिराज अवधिज्ञानी थे, तथापि स्वरूप से बाहर आकर जब अवधिज्ञान का उपयोग करें, तब बतावें, लेकिन वे तो आत्मसाधना में लीन थे, उन्हें मौन देखकर अङ्गारक का क्रोध और अधिक बढ़ गया, उसने कहा –

'अरे धूर्त! दिन-दहाड़े चोरी करके अब ढोंग करता है! तू यह मत समझना कि मैं मुझे ऐसे ही छोड़ दूँगा। जल्दी बता! कहाँ है मेरा मणि?'

परन्तु यहाँ वीतरागी मुनिराज की क्षमारूपी ढाल के सामने क्रूरवचनरूपी बाण कोई असर नहीं कर सके... मुनिराज तो अडिगरूप से आत्मध्यानस्थ ही थे।

जब अंगारक ने देखा कि उसके क्रूर वचनों का भी मुनिराज पर कोई असर नहीं हो रहा है तो उसने सोचा कि अवश्य ही इसने मेरी मणि को कहीं छिपा दिया है... इसलिए तो यह मौन हैं।

'बोल ! सीधे-सीधे मेरी मणि देता है या नहीं... या... इसका स्वाद चखाऊँ - ऐसा कहकर उसने मुनिराज पर वार करने के लिए लाठी उठाई।'

अरे ! कुछ समय पूर्व ही जिनके पावन चरणों में जो श्रद्धापूर्वक अपना सिर झुका रहा था, उनके सिर पर अब प्रहार करने को वही तैयार हो गया है... हाय ! जीव के परिणामों की कितनी विचित्रता है। भावों का कैसा परिवर्तन ?

मुनिराज तो नहीं बोले... सो नहीं ही बोले... ध्यान से नहीं डिगे... तो नहीं ही डिगे। जब अङ्गारक ने ऊपर उठाई लकड़ी से वार करने के लिए उसे नीचे किया ही था कि... वह लकड़ी उन तक पहुँचने से पहले ही डाल पर बैठे मोर के कण्ठ पर लगी और तभी करुण चीत्कार के साथ मोर के कण्ठ से कोई चमकीली-सी वस्तु जमीन पर गिर पड़ी...।

अरे ! यह क्या ? यह तो वही पद्मरागमणि है, उसी के लाल - लाल प्रकाश से पृथ्वी जगमग-जगमग करने लगी है...मानों मुनिराज की रक्षा होने से...उनका उपसर्ग दूर होने की खुशी में आनन्द से हँस रही हो।

अंगारक तो इस मणि को देखकर आश्चर्यचकित ही रह गया... उसकी आँखों के सामने फिर से अन्धेरा छा गया... लकड़ी हाथ में ही रह गयी... और धड़ाम से उसका शरीर मुनिराज के चरणों में गिर पड़ा। पद्मरागमणि के गुम हो जाने का रहस्य अब एकदम स्पष्ट हो गया था और वह कलाकार अपने अविचारी कृत्य के कारण पश्चाताप के सागर में अचेत होकर पड़ा था... ध्यानस्थ मुनिराज को तो बाहर क्या हो रहा है ? उसका कुछ पता ही नहीं था ?

जब श्रीमुनिराज ने **णमो सिद्धाणं** कहकर ध्यान पूरा किया और आँखे खोली... तब देखा कि कुछ समय पूर्व (आहारदान के समय) का यह अङ्गारक यहाँ चरणों में पश्चाताप के कारण सिसक... सिसककर रो रहा है ?...एक ओर पद्ममणि धूल में धूल-धूसरित पड़ा है... थोड़ी दूर पर लकड़ी पड़ी है... ऊपर डाल पर बैठा मोर मणि की ओर टकटकी लगाकर देख रहा है... श्रीमुनिराज को सारी स्थिति समझते देर नहीं लगी... उन्होंने अंगारक को आश्वासन देते हुए महा करुणार्द्र होकर कहा -

'हे वत्स अंगारक ! दुःखी मत हो। सोच विचार छोड़ दे। इज्जत और लक्ष्मी का मोह ऐसा ही है, जो जीव को अविचारी बनाता है। भाई ! जो होना था, हो गया...अब शोक करना छोड़ दे और...अपना आत्महित साधने के लिए तत्पर हो।'

पश्चाताप की अग्नि में जलते हुए अङ्गारक के हृदय में मुनिराज के वचनों ने अमृत का सिञ्चन किया... उसने हाथ जोड़कर मुनिराज से निवेदन किया -

'प्रभु! मुझे क्षमा करो। मोह से अन्ध होकर मैंने अत्यन्त घृणास्पद कार्य किया है... क्रोध से मैं अविचारी बन गया था... प्रभु! मुझे क्षमा करके इस भयङ्कर पाप से मेरा उद्धार करो। हे नाथ! आपश्री के आहारदान के समय मैंने इस मणि को पेटी के ऊपर रख दिया था और उसी समय ऊपर बैठा यह मोर भी हमारे घर में घुस गया था, उस चमकती मणि को खाने की वस्तु समझकर घटक गया था... परन्तु वह मणि भाग्यवश उसके गले में ही अटक गई... लेकिन मैंने बिना देखे... बिना विचारे आप पर शङ्का की... आप पर प्रहार करने के लिए लकड़ी उठाई... परन्तु प्रभु! सद्भाग्य से... वह मोर आपके पीछे-पीछे ही यहाँ आकर इस वृक्ष पर बैठ गया था... और मेरे द्वारा आपको मारने के लिए लकड़ी ऊपर उठाने पर उसके गले पर लकड़ी लगी और गले में से वह मणि नीचे गिर पड़ी... इस प्रकार आपकी रक्षा हो गयी... मोर के भी प्राण बच गये... और मेरे इन पापी हाथों से एक वीतरागी योगी की हिंसा होते-होते बच गयी।'

यह सब बोलते-बोलते पश्चाताप का भाव होने से अंगारक के पाप मानो पानी-पानी होकर आँखों में से अश्रुधारा के रूप में बाहर निकल रहे थे। थोड़ी देर तक चुप बैठकर उसने पुनः मुनिराज से कहा -

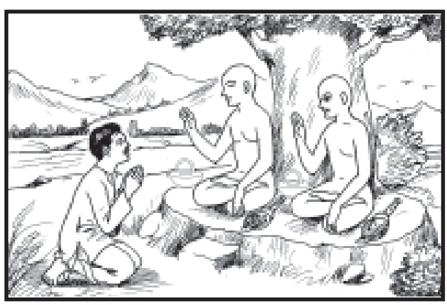

'प्रभो! हे प्रभो! आपकी अमृतमयी वचनों से आज मैंने नया जीवन प्राप्त किया है। नाथ! इस पापमय संसार से

उद्धार करो...बस, अभी मुझे निर्ग्रन्थ मुनिदीक्षा प्रदान करो... और मेरा कल्याण करो।'

तब श्री मुनिराज ने कहा –

'हे बन्धु! तेरा भाव उत्तम है... परन्तु उसके पहले इस पद्ममणि को ले जाकर राजा को वापिस करकेआओ।'

'प्रभो! इस पद्ममणि को छूने में भी अब मेरा हाथ काँपता है।'

'वत्स! ऐसा समझ कि इस मणि के निमित्त से ही आज तेरे भावों में यह महान परिवर्तन हुआ है।'

अङ्गारक ने काँपते हाथों से मणि उठाया... और मुनिराज के चरणों में नमस्कार करके, राजदरबार की तरफ चला।

★ ★ ★

राजदरबार में महाराजा अपनी मन्त्री परिषद् के साथ किसी विषय पर चर्चा कर रहे थे, इतने में ही कलाकार अंगारक ने वहाँ पहुँचकर कहा –

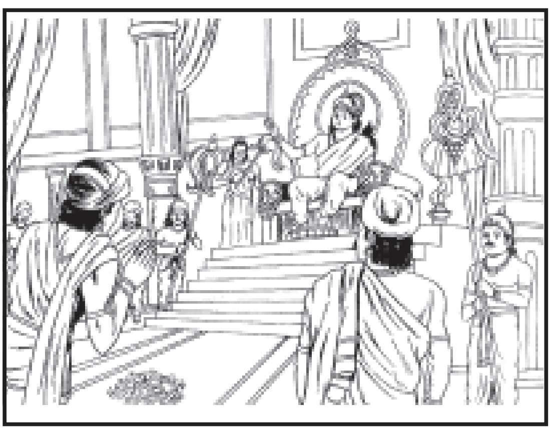

'लीजिये महाराज! आप यह पद्मरागमणि!!'

अंगारक ने काँपते हाथों से मणि महाराज को सौंप दिया। मणि को जैसा का तैसा वापिस पाकर महाराज ने विस्मय पूछा –

'क्यों कलाकार! इस मणि को वापस क्यों कर रहे हो?'

'राजन! इस मणि को आभूषण में जड़ने का काम मुझसे नहीं हो सकता।'

'अरे! क्या कहते हो अङ्गारक! यदि तुम्हारे जैसा कुशल कलाकार, यह काम नहीं कर सकता तो अन्य कौन कर सकेगा।'

'राजन्! ऐसे मणि-रत्नों को जड़-जड़कर अनेक आभूषणों को तो मैंने शोभा दिलायी... और इसी में सारी जिन्दगी समाप्त कर दी... परन्तु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूपी रत्नों से मैंने अपनी आत्मा को आज तक आभूषित नहीं किया... महाराज! अब तो जीवन में इन रत्नों को जड़कर उससे आत्मा की शोभा बढ़ाना है।'

'कलाकार को अचानक यह क्या हो गया?' - यह जब राजा को समझ में नहीं आया, तब राजा ने अंगारक से पूछा - 'लेकिन कलाकार! आखिर क्या बात हो गयी? यह तो बताओ?'

तब अंगारक बोला - 'राजन्! आपके इस मणि के निमित्त से आज एक ऐसी घटना घट गयी है कि जिसका वृतान्त कहना मेरे लिए सम्भव नहीं है परन्तु इतना अवश्य है कि इस मणि को आभूषण में जड़ने से मुझे जो पुरस्कार आपसे मिलता, उससे भी विशेष अनन्त पुरस्कार आज मुझे मिल गये हैं। राजन्! अब में रत्नत्रयमणि से अपने आत्मा को आभूषित करने के लिए श्रीगुरु के चरणों में जा रहा हूँ।'

'परन्तु मेरे इस मणि को जड़ने का काम तो पूरा करा दो....'

'नहीं राजन्! अब यह अङ्गारक पहले जैसा कलाकार नहीं रह गया है, अब तो यह अपने आत्मा में ही सम्यक्त्व आदि मणि

जड़ने के लिए जा रहा है...' - ऐसा कहकर अङ्गारक राजभवन से बाहर निकल गया।

राजा तो दिग्भ्रमित होकर बाहर की तरफ देखते रह गये। बहुत विचार करने पर भी इस घटना के रहस्य को वे सुलझा नहीं सके।

★★★

दूसरे दिन, जब नगरी के धर्म प्रेमी महिला-पुरुष श्री ज्ञानसागर मुनिराज के दर्शन करने आये... तब उनके साथ एक और नये मुनिराज को देखकर नगरजन विस्मित हो गये... और सबने भक्ति से उनके चरणों में शीश झुकाया, तभी...

'अरे! यह तो हमारा सोनी... कलाकार अङ्गारक!' अपनी नगरी के ही एक नागरिक को इस प्रकार मुनिदशा में देखकर सबको महान आश्चर्य हुआ... और शीघ्र ही यह बात सारी नगरी में बिजली की तरह फैल गयी।

राजा को भी जब यह ज्ञात हुआ तो वे भी शीघ्रता से वहाँ पहुँच गये... मुनिराज को वन्दना आदि करके राजा ने पूछा -

'प्रभो! कल का कलाकार आज अचानक अध्यात्मयोगी बन गया है, इसमें क्या रहस्य है? यह सब जानने के लिए हम अत्यन्त आतुर हो रहे हैं।'

श्री ज्ञानसागर मुनिराज ने मणि के गुमने और मिलने की कहानी विस्तार के साथ बताकर इस रहस्य का उद्घाटन किया और कहा -

'राजन्! अब इसने अपनी आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी तीन रत्नों को जड़ दिया है, इन तीनों

चैतन्यमणियों के प्रकाश से इसका आत्मा जगमग-जगमग कर रहा है और इसका मोहान्धकार नष्ट हो गया है। अब वह जड़ पत्थरों का कलाकार न होकर चैतन्यमणियों का कलाकार बन गया है।'

कलाकार की रोमाञ्चक कथा सुनकर राजा और प्रजा अत्यन्त विस्मित और हर्षित हुए। सबने एक स्वर में 'रत्नत्रय कलाकार की जय'... 'अङ्गारक कलाकार की जय'....। 'श्री ज्ञानसागर मुनि महाराज की जय'... इत्यादि प्रकार से जय -जयकार करके आकाश गुञ्जायमान कर दिया...।

तत्पश्चात् राजा ने उसी पद्मरागमणि के द्वारा अङ्गारक मुनि के चरणों की पूजा-अर्चना की... कलाकार ने जिस मणि को वापिस कर दिया था, वही मणि फिर से उनके ही चरणों को जगमगा रही थी। यह अत्यन्त आनन्द का दृश्य देखकर मोर भी आनन्द की टंकार लगाने लगा और अपने पंखों को फैलाकर नाचने लगा। अहो, धन्य! अङ्गारक मुनिराज!! *(- बोधि-समाधि निधान से)*

13

(पिता-केवली, पुत्र-चक्रवर्ती, प्रपौत्र-तीर्थङ्कर)

विरक्त चक्रवर्ती श्रीपाल

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में पुण्यशाली भव्यात्मा तद्भव मोक्षगामी गुणपाल नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम कुबेरश्री था। राजा गुणपाल, संसार को असार जानकर गृहस्थ अवस्था का त्याग कर शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अङ्गीकार कर आत्मसाधना करने लगे। उनके दोनों पुत्र वसुपाल और श्रीपाल जब अपनी माता कुबेरश्री के साथ रहते हुए अपने राज्य का भली प्रकार सञ्चालन कर रहे थे, तभी एक दिन पुण्योदय से माता कुबेरश्री को वनपाल ने आकर यह शुभ एवं कल्याणकारी समाचार सुनाया कि सुरगिरि नामक पर्वत पर गुणपाल मुनिराज (जो इसी भव में कुबेरश्री के पति थे) को केवलज्ञान प्रगट होने से सर्वत्र आनन्द छाया हुआ है।

यह मङ्गलकारी समाचार सुनकर उन्होंने प्रथम तो उन केवली भगवान को सात पैड़ चलकर नमस्कार किया, पश्चात् वनपाल को पारितोषिक देकर विदा किया और स्वयं अपने दोनों पुत्रों व सम्पूर्ण नगरवासियों सहित केवली भगवान के दर्शन-वन्दन हेतु चल पड़ीं।

मार्ग में वे सभी एक उत्तम वन में पहुँचे जो कि अच्छे-अच्छे वृक्षों से सुशोभित हो रहा था और जिसमें किसी समय किसी वट वृक्ष के नीचे खड़े होकर महाराज जगतपाल चक्रवर्ती ने संयम धारण किया था। आज उसी वृक्ष के नीचे एक दर्शनीय नृत्य हो रहा था, उसे दोनों भाई बड़े उत्साह से देखने लगे। देखते-देखते कुमार श्रीपाल ने कहा – 'यह स्त्री का वेष धारण कर पुरुष नाच रहा है और पुरुष का वेष धारण कर स्त्री नाच रही है। यदि यह स्त्री, स्त्री के ही वेष में नृत्य करती तो बहुत ही अच्छा नृत्य होता।'

श्रीपाल की बात सुनकर नटी मूर्च्छित हो गयी। उसी समय अनेक उपायों से नटी को सचेत कर कोई अन्य स्त्री (नट का रूप करनेवाली स्त्री की माँ, जिसका नाम प्रियरति है) उस होनहार चक्रवर्ती श्रीपाल से विनयपूर्वक इस प्रकार कहने लगी – 'सुरम्य देश के श्रीपुर नगर के राजा का नाम श्रीधर है, उसकी रानी का नाम श्रीमती है और उसकी जयावती नाम की पुत्री है। उसके जन्म के समय ही निमित्तज्ञानियों ने कहा था कि यह चक्रवर्ती की पट्टरानी होगी और उस चक्रवर्ती की पहचान यही है कि जो नट और नटी के भेद को जानता हो, वही चक्रवर्ती होगा। हम लोग उसी की परीक्षा करने के लिए आये हैं, पुण्योदय से हम लोगों ने आपके दर्शन किये हैं। मेरा नाम प्रियरति है, यह पुरुष का आकार धारण कर नृत्य करनेवाली मदनवेगा नाम की मेरी पुत्री है और स्त्री का धारण करनेवाला यह वासव नाम का नट है।' यह सुनकर राजा ने सन्तुष्ट होकर उस स्त्री को योग्यतानुसार सन्तोषित किया; पश्चात्

सभी अपने पिता केवली गुणपाल की वन्दना के लिए सुरगिरि नामक पर्वत की ओर चल दिये।

इधर मार्ग में कोई पुरुष घोड़ा लेकर आ रहा था, उस पर आसक्तचित्त हो श्रीपाल ने सवारी की और उस घोड़े को दौड़ाया। कुछ दूर तक तो वह घोड़ा पृथ्वी पर दौड़ा, फिर अपना विद्याधर का आकार प्रगट कर उसे आकाश में ले उड़ा। वहाँ रहनेवाले वनदेवता ने उस विद्याधर को ललकारा, देवता की ललकार से डरे हुए उस अशनिवेग नाम के विद्याधर ने अपनी भेजी हुई पर्णलघु विद्या से उस कुमार श्रीपाल को रत्नावर्त नाम के पर्वत के शिखर पर छोड़ दिया परन्तु उस देव ने भी श्रीपाल को वहाँ से सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने के बजाय वहीं छोड़ दिया, क्योंकि उस देव को अपने ज्ञान से यह पता चल गया था कि श्रीपाल को इस रत्नावर्त पर्वत पर अनेक प्रकार से धन, यश, स्त्री आदि का लाभ होनेवाला है।

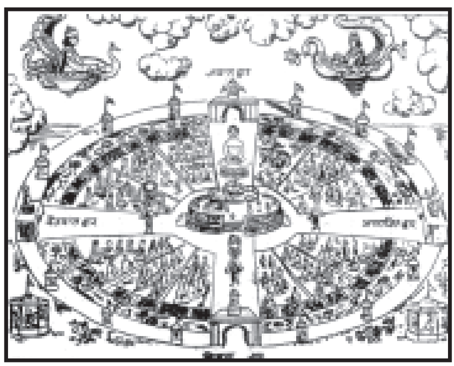

श्रीपाल की माता कुबेरश्री एवं भाई वसुपाल अपने निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार श्री गुणपाल केवली के दर्शन करने पहुँच गये। वहाँ वसुपाल ने अपने भाई श्रीपाल के हरण के सम्बन्ध में केवलीप्रभु से समाधान चाहा, तब केवली भगवान की दिव्यवाणी में आया – 'श्रीपाल अनेक प्रकार के लौकिक लाभ अर्जित कर शीघ्र ही वापिस आयेंगे।'

'केवली के वचन कभी मिथ्या नहीं होते, यह बात जग प्रसिद्ध है क्योंकि वे एक समय में ही तीन काल - तीन लोक के समस्त चराचर पदार्थों को उनके द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जान लेते हैं।' - ऐसा विचार कर वसुपाल निश्चिन्त हो, केवली प्रभु की दिव्यध्वनि का लाभ लेने में मग्न हो गये।

केवली के वचनानुसार श्रीपाल कुछ ही समय में अनेक रानियों और वैभव के साथ केवली भगवान के दर्शनार्थ सुरगिरि पर्वत पर आ पहुँचे। उन्होंने वहाँ गुणपाल जिनेन्द्र की वन्दना -स्तुति करने के पश्चात् अपनी माता व भाई वसुपाल का भी आशीर्वाद प्राप्त किया। अपने साथ आयी हुई रानी सुखावती का अपनी माता व भाई से यह कहकर परिचय कराया - 'मैं इसके प्रभाव से ही कुशलतापूर्वक आपके पास आ सका हूँ।' सो ठीक ही है, सज्जन पुरुष अपने ऊपर किये हुए उपकारों को कभी नहीं भूलते।

पश्चात् वे सात दिन में सुखपूर्वक अपने नगर में प्रविष्ट हुए। सो ठीक ही है, क्योंकि प्रबल पुण्य का उदय होने के कारण पुरुषों पर आयी आपत्तियाँ भी सम्पत्ति व सम्मान लेकर आती हैं।

इस प्रकार अनेक प्रकार के जगत् सुख भोगते हुए श्रीपाल को एक दिन रूपवान व गुणवान जयावती रानी के उदर से पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। वह गुणों की खान होने से, ज्योतिषियों ने उसका नाम 'गुणपाल' ही रख दिया तथा उसी दिन राजा श्रीपाल की आयुधशाला में चक्ररत्न प्रगट हुआ। चक्ररत्न की प्राप्ति से वे राजा श्रीपाल, चक्रवर्ती सम्राट बन गये। चक्रवर्ती श्रीपाल के पुत्र गुणपाल के

युवा होने पर जयसेना आदि अनेक गुणवान कन्याओं से उनका विवाह हुआ।

जिसका मोक्ष जाना अत्यन्त निकट रह गया है – ऐसे श्रीपाल के पुत्र राजकुमार गुणपाल काललब्धि आदि से प्रेरित होकर एक दिन आकाश की ओर देख रहे थे कि इतने में उनकी दृष्टि अकस्मात् अन्धकार से भरे हुए चन्द्रग्रहण की ओर पड़ी, उसे देखकर वे सोचने लगे – 'इस संसार को धिक्कार है, जब इस चन्द्रमा की भी यह दशा है तब संसार के अन्य पापग्रसित जीवों की क्या दशा होगी?' – इस प्रकार वैराग्य आते ही उन उत्कृष्ट बुद्धिवाले गुणपाल को जातिस्मरण उत्पन्न हो गया, जिससे उन्हें अपने पूर्व भव का स्मरण प्रत्यक्ष की तरह होने लगा।

उन्हें स्मरण हुआ – 'पुष्करार्ध द्वीप के पश्चिम विदेह में पद्म नामक एक प्रसिद्ध देश है, उसके कान्तपुर नगर का स्वामी राजा कनकरथ था, उसकी रानी का नाम कनकप्रभा था, उन दोनों के मैं अपनी प्रभा से सूर्य को तिरस्कृत करनेवाला कनकप्रभ नामक पुत्र हुआ था। एक दिन बगीचे में विद्युत्प्रभा नाम की मेरी पत्नी को साँप ने काट खाया, उसके वियोग से मैं विरक्त हुआ और अपने ऊपर अत्यन्त स्नेह रखनेवाले पिता-माता तथा भाईयों के साथ-साथ मैंने समाधिगुप्त मुनिराज के समीप उत्कृष्ट संयम धारण कर

लिया। वहाँ मैं दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं का भली प्रकार चिन्तवन करता हुआ आयु के अन्त में जयन्त नाम के विमान में अहमिन्द्र हुआ और आयु पूर्ण करके वहाँ से चयकर यहाँ श्रीपाल का पुत्र गुणपाल हुआ हूँ।'

वे इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि इतने में ही स्वर्गलोक से लौकान्तिक देवों ने आकर उनके वैराग्य की अनुमोदना की। इस प्रकार प्रबोध को प्राप्त हुए गुणपाल, मोहजाल को नष्ट कर तपश्चरण करने लगे और घातियाकर्मों को नष्ट कर सयोगिपद – तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त हुए। श्रीपाल की दूसरी रानी सुखावती का पुत्र यशपाल भी इन्हीं तीर्थङ्कर गुणपाल जिनेन्द्र के समीप दीक्षा धारण कर उनके पहले गणधर हुए।

उसी समय चक्रवर्ती सम्राट श्रीपाल ने बड़ी विभूति के साथ आकर गुणपाल तीर्थङ्कर की पूजा की और गृहस्था तथा मुनि सम्बन्धी दोनों प्रकार का धर्म सुना। तदनन्तर बड़ी विनय के साथ अपने पूर्वभवों का वृतान्त सुना।

पुण्यात्मा श्रीपाल जन्म, जरा और मृत्यु रोग का नाश करने के लिये बुद्धि स्थिर करके धर्मरूपी अमृत का पान कर विचार करने लगे – **यह चक्रवर्ती का चक्र कुम्हार के चाक समान है और साम्राज्य कुम्हार की सम्पत्ति के समान है क्योंकि जिस प्रकार कुम्हार अपना चक्र (चाक) चलाकर मिट्टी से घटादि बर्तनों को बनाकर उनसे अपनी आजीविका चलाता है, उसी प्रकार मैं चक्रवर्ती भी अपना चक्र (चक्ररत्न) चलाकर मिट्टी में से उत्पन्न हुए रत्नादि से अपनी भोगोपभोग की**

सामग्री एकत्रित करता हूँ। इसलिए इस चक्रवर्ती के साम्राज्य को धिक्कार है।

यह आयुष्य, वायु के समान है; भोग, मेघ के समान हैं; स्वजनों का संयोग नष्ट होनेवाला है; शरीर पापों का आयतन है और विभूतियाँ बिजली के समान चञ्चल हैं। यह युवावय, मार्ग से भ्रष्ट होने का कारण होने से गूढ़ वन के समान है, जो विषयों में प्रीति है, वह राग-द्वेष को बढ़ानेवाली है। इन वस्तुओं में से सुख वहाँ तक ही मिलता है, जहाँ तक बुद्धि में विपर्यास होता है और जब सुबुद्धि आती है, तब ऐसा मालूम पड़ता है कि ये सब विषय-कषाय तो दुःख के ही साधन हैं, हमारे आत्मसुख के घात करनेवाले होने से छोड़ने योग्य हैं।

जब अभिलाषारूपी ज़हर के अंकुरों से इस चित्तरूपी वृक्ष की हमेशा वृद्धि होती है, तब सम्भोगरूपी डाली पर दुःखरूपी फल कैसे नहीं लगेंगे ? मैंने इच्छानुसार दीर्घकाल तक सभी प्रकार के भोग भोगे, परन्तु इस भव में तृष्णा को नाश करनेवाली तृप्ति मुझे रञ्चमात्र भी नहीं मिली। यदि अपनी इच्छानुसार समस्त ही पदार्थ एक साथ मिल जाएँ, तो भी उससे कुछ भी सुख नहीं मिलता, क्योंकि संयोग में आने पर तृप्ति नहीं होती और उन सभी को भोगने की इसकी क्षमता नहीं है; अतः जीव सदा दुःखी ही रहता है। इसलिए अब अपने आत्मा के सच्चे सुख को प्राप्त करके मैं शीघ्र ही पुरुष बन सकता हूँ - पुरुषत्व का स्वामी बन सकता हूँ, अर्थात् आत्मा को स्वीकार कर पर्याय में भी परमात्मा बन सकता हूँ।

इस प्रकार चक्रवर्ती सम्राट श्रीपाल ने चक्ररत्नसहित समस्त परिग्रहों को एक साथ छोड़ने का निर्णय किया और दीक्षा ग्रहण करके तप द्वारा कर्मों का नाश कर, केवलज्ञान प्रगट कर आयु के अन्त में मोक्ष प्राप्त किया।

– ऐसे तद्भव मोक्षगामी सभी भव्यात्माओं / परमात्माओं को हमारा नमस्कार हो। ●●

(महापुराण से)

उत्कृष्ट प्रयत्न करना चाहिए

इस जन्म-मरणरूप संसार में अनन्तकाल से परिभ्रमण करता हुआ जीव मनुष्य पर्याय प्राप्त करता है अथवा नहीं भी करता अर्थात् उसे वह मनुष्य पर्याय अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होती है। यदि कदाचित् वह मनुष्यभव प्राप्त कर भी ले तथापि नीचकुल में उत्पन्न होने से उसका वह मनुष्य भव पापाचरणपूर्वक ही नष्ट हो जाता है। यदि किसी प्रकार उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ तब भी वहाँ वह या तो गर्भ में ही मर जाता है अथवा बाल्यावस्था में भी शीघ्र मरण को प्राप्त करता है, इससे भी धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। पश्चात् आयु की अधिकता में वह धर्म प्राप्त हो जाय तो उसके विषय में उत्कृष्ट प्रयत्न करना चाहिए।

- श्री पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका

14

विवाह मण्डप में वैराग्य

जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र में वत्सकावती देश है, जहाँ सदा अनेक केवली भगवन्त और मुनिवर विचरते हैं तथा जैनशासन का धर्मचक्र सदा चलता रहता है। वहाँ के लोग जैनधर्म में सदा तत्पर रहते हैं और स्वर्ग के देव भी वहाँ धर्म श्रवण करने आते हैं। उस देश की प्रभाकरी नगरी में धर्मात्मा स्मितसागर महाराजा राज्य करते थे। स्मितसागर महाराजा के अपराजित और अनन्तवीर्य नामक दो पुत्र थे। वे अपने साथ महान् पुण्य लेकर आये थे, इसलिए वे बलदेव और वासुदेव हुए।

एक बार किसी वैराग्य प्रसङ्ग को पाकर राजा स्मितसागर दोनों पुत्रों को राज्य सौंपकर संसार से विरक्त हुए और स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के निकट जिनदीक्षा ग्रहण करके मुनि हो गये। एक बार धरणेन्द्रदेव की दिव्य विभूति देखकर उन्होंने उसका निदानबन्ध किया, इसलिए चारित्र से भ्रष्ट होकर पुण्य को अति अल्प करके मृत्यु के पश्चात् धरणेन्द्र हुए। **अरे रे! निदान, वास्तव में निन्दनीय कृत्य है, जो कि जीव को धर्म से भ्रष्ट करके दुर्गति में भ्रमण कराता है।**

❖ ❖ ❖

यहाँ प्रभाकरी नगरी में अपराजित और अनन्तवीर्य के राज्यवैभव में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होने लगी। उनकी राजसभा में देश-विदेश में प्रख्यात बर्बरी और चिलाती नाम की दो राजनर्तकियाँ थीं, उन दिनों शिवमन्दिर नाम की विद्याधरनगरी में राजा दमितारी राज्य करता था, वह प्रतिवासुदेव था, उसने तीन खण्ड पृथ्वी जीत ली थी और उसके शस्त्रभण्डार में एक दैवी चक्र उत्पन्न हुआ था। उस दमितारी राजा ने उन दोनों नर्तकियों की प्रशंसा सुनी; उसने बलदेव-वासुदेव को आदेश दिया कि दोनों नर्तकियाँ मुझे सौंप दो और मेरी आज्ञा में रहकर राज्य करो।

दोनों भाईयों ने युक्ति सोची, तदनुसार वे स्वयं ही नर्तकी का रूप धारण कर दमितारी के राजमहल में पहुँच गये और उसकी पुत्री कनकश्री का अपहरण करके ले गये।

कनकश्री के अपहरण की बात सुनते ही राजा दमितारी ने सेनासहित उन दोनों भाईयों के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान किया। जब वह उन्हें किसी प्रकार से नहीं जीत सका, तब उसने अनन्तवीर्य को मारने के लिये उस पर अपने दैवी चक्र का प्रयोग किया परन्तु अनन्तवीर्य के पुण्यातिशय के कारण वह चक्र उसके निकट आते ही शान्त हो गया और उसका आज्ञाकारी बन गया। अनन्तवीर्य ने क्रोधपूर्वक उस चक्र द्वारा दमितारी का सिरच्छेद कर दिया। **अरे रे! उसी के चक्र ने उसी का वध कर दिया।**

मरकर दमितारी नरक में गया। प्रतिवासुदेव राजा दमितारी के पिता कीर्तिधर मुनि हुए थे और केवलज्ञान प्रगट करके अरहन्तरूप में विचर रहे थे। अरे! देखो, संसार की विचित्रता!! पिता तो

केवली हुए और पुत्र नरक में गया। **अहा! प्रत्येक जीव के परिणाम स्वतन्त्र एवं भिन्न-भिन्न हैं।**

पुत्री कनकश्री अपने दादा कीर्तिधर भगवान के समवसरण में अपने पूर्व भव जानकर, संसार से विरक्त होकर आर्यिका हुई और समाधिमरण करके स्वर्ग में देवी हुई।

जीवों के परिणामों का फल प्रत्यक्ष जानकर हे भव्यजीवो! तुम मोक्ष के हेतु जैनधर्म की उपासना करो। **अहा! जैनधर्म की उपासना तो मोक्षफल प्राप्त कराती है, उसमें स्वर्गादि की प्राप्ति की गिनती ही क्या है?**

अपराजित और अनन्तवीर्य दोनों भाई (अर्थात् शान्तिनाथ तीर्थङ्कर तथा चक्रायुध गणधर के जीव) विदेहक्षेत्र में बलदेव-वासुदेवरूप में प्रसिद्ध हुए। हजारों राजा और देव उनकी सेवा करते थे, तीन खण्ड की उत्तम विभूति उन्हें प्राप्त हुई थी, अनेक दैवी विद्याएँ भी उनको सिद्ध थीं। यह सब जिनधर्म की सेवा-भक्ति का फल था।

❖ ❖ ❖

विदेहक्षेत्र की प्रभाकरी नगरी में बलदेव-अपराजित और वासुदेव-अनन्तवीर्य दोनों भाई जब सुखपूर्वक तीन खण्ड का राज्य करते थे, तब एक बार बलदेव की पुत्री कुमारी सुमति के विवाह की तैयारियाँ चल रही थीं। अति भव्य विवाह-मण्डप के बीच सुमतिकुमारी, सुन्दर शृङ्गार करके आयी थी। उसी समय आकाश से एक देवी उतरी और सुमति से कहने लगी –

'हे सखी! सुन, मैं तेरे हित की बात कहती हूँ। मैं स्वर्ग की देवी हूँ, तू भी पूर्व भव में देवी थी और हम दोनों सहेलियाँ थीं। एक

बार हम दोनों नन्दीश्वर जिनालयों की पूजा करने गये थे, पश्चात् हम दोनों ने मेरु जिनालय की भी वन्दना की थी। वहाँ एक ऋद्धिधारी मुनिश्री के दर्शन किये थे और धर्मोपदेश सुनकर हमने उन मुनिराज से पूछा था कि हे स्वामी! इस संसार से हम दोनों की मुक्ति कब होगी?'

मुनिराज ने कहा था – 'तुम चौथे भव में मोक्ष प्राप्त करोगी।'

देवी ने आगे कहा – 'हे सुमति! यह सुनकर हम दोनों अति प्रसन्न हुए थे और हम दोनों ने मुनिराज के समक्ष एक-दूसरे को वचन दिया था कि हम में से जो पहले मनुष्यलोक में जन्म लेगा, उसे दूसरी देवी सम्बोधकर आत्महित की प्रेरणा देगी; इसलिए हे सखी! मैं उस वचन का पालन करने स्वर्ग से आयी हूँ। तू इन विषय-भोगों में मत पड़, संयम धारण कर और आत्महित कर ले।'

विवाह-मण्डप के बीच देवी की यह बात सुनते ही बलदेव की वीरपुत्री सुमति को अपने पूर्व भव का स्मरण हुआ और वह वैराग्य को प्राप्त हुई। उसने अन्य सात सौ राजकन्याओं के साथ सुवृता नाम की आर्यिका के पास जिनदीक्षा ग्रहण की और आर्यिकव्रत का पालन करके स्त्रीपर्याय छेदकर, उस सुमति के जीव ने तेरहवें स्वर्ग में देवपर्याय प्राप्त की।

अचानक विवाह-मण्डप में ही राजकुमारी को 'विवाह के समय वैराग्य' की घटना से चारों ओर आश्चर्य फैल गया। बलभद्र का चित्त भी संसार से उदास हो गया। यद्यपि उनको संयम भावना जागृत हुई, किन्तु अपने भ्राता अनन्तवीर्य के प्रति तीव्र स्नेह के कारण वे संयम धारण नहीं कर सके। ऐसा महान वैराग्य प्रसङ्ग प्रत्यक्ष देखकर भी अनन्तवीर्य वासुदेव को (पूर्व के निदानबन्ध

के मिथ्या संस्कारवश) किञ्चित् भी वैराग्य नहीं हुआ; उसका जीवन दिन-रात विषय-भोगों में ही आसक्त रहा। तीव्र विषयासक्ति के कारण सदा आर्त-रौद्रध्यान में वर्तता हुआ, वह पञ्च परमेष्ठी को भी भूल गया।

अरे! जिस धर्मानुराग के कारण वह ऐसे पुण्यभोगों को प्राप्त हुआ था, उस धर्म को ही वह भूल गया। अपने भाई के साथ अनेकों बार वह प्रभु के समवसरण में भी जाता और धर्मोपदेश भी सुनता परन्तु उसका चित्त तो विषय-भोगों से रँगा हुआ था। **अरे रे! जिसका चित्त ही मलिन हो, उसके लिए परमात्मा का संयोग भी क्या कर सकेगा?** तीव्र आरम्भ-परिग्रह के कलुषित भाव के कारण वह अनन्तवीर्य, रौद्रध्यानपूर्वक मरकर नरक में गया।

❖ ❖ ❖

वह अर्धचक्रवर्ती का जीव महाभयङ्कर नरक के बिल में औंधे मुँह नीचे की कर्कशभूमि पर जा गिरा। नरकभूमि के स्पर्शमात्र से उसे इतना भयङ्कर दुःख हुआ कि पुनः पाँच सौ धनुष ऊपर उछला और फिर नीचे गिरा; गिरते ही खण्ड-खण्ड हो गया, जिससे उसे असह्य शारीरिक वेदना हुई, पुनः शरीर पारे की भाँति जुड़ गया। उसे देखते ही दूसरे हजारों नारकी आकर उसे मारने लगे।

— ऐसे भयङ्कर दुःख देखकर उसे विचार आया कि 'अरे! मैं कौन हूँ? कहाँ आकर पड़ा हूँ? मुझे अकारण ही इतना दुःख देनेवाले यह क्रूर जीव कौन हैं? मुझे क्यों इतनी भयङ्कर पीड़ा दी जा रही है? अरे रे! मैं कहाँ जाऊँ? अपना दुःख किससे कहूँ? यहाँ मुझे कौन बचायेगा? भीषण ताप और भूख-प्यास के कारण मुझे मृत्यु से भी अधिक वेदना हो रही है। मुझे बहुत प्यास लगी

है; लेकिन पानी कहाँ मिलेगा ?' – इस प्रकार दुःखों से चिल्लाता हुआ वह जीव इधर से उधर भटकने लगा। तभी उसने कुअवधिज्ञान से जाना कि अरे! यह तो नरकभूमि है, पापों के फल से मैं नरकभूमि में आ पड़ा हूँ और यह परम-अधर्मी असुरदेव अन्य नारकियों को पूर्व की याद दिलाकर भयङ्कर दुःख देने के लिए प्रेरित कर मुझे मेरे पापों का फल चखा रहे हैं।

अरे रे! दुर्लभ मनुष्यभव विषयभोगों में गँवाकर मैं इस घोर नरक में आ पड़ा हूँ। मुझ मूर्ख ने पूर्व भव में धर्म के फल में भोगों की चाह करके सम्यक्त्वरूपी अमृत को विनष्ट कर दिया और विष-समान विषयों की लालसा की। अरे...रे! मैंने पुण्यफलरूप राख के लिए सम्यक्त्वरूप चिन्तामणि रत्न जला दिया। उस भूल के कारण मुझे वर्तमान में कैसे भयङ्कर दुःख भोगने पड़ रहे हैं। अरे रे! विषयों में से तो मुझे किञ्चित् सुख नहीं मिला, अपितु उनके सेवन से मैं इस नरकरूप दुःखों के समुद्र में आ पड़ा हूँ।

अहा! पूर्वभव में तीर्थङ्कर परमात्मा ने समझाया था कि अरे भाई! बाह्य विषयों में सुख है ही कहाँ ? सुख तो आत्मा में है।' उस समय मैंने उस बात पर ध्यान नहीं दिया। अब, मैं अतीन्द्रिय आत्मसुख की प्रतीति करके पुनः अपने सम्यक्त्व को ग्रहण करूँगा, जिससे फिर कभी ऐसे घोर नरकों के दुःख नहीं सहना पड़े।

– इस प्रकार पश्चातापसहित नरक के घोरातिघोर दुःखों को सहन करता हुआ वह अनन्तवीर्य का जीव अपनी असंख्यात वर्ष की नरकायु का एक-एक पल बड़ी कठिनतापूर्वक, रो-रोकर

व्यतीत कर रहा था। अरे! उसके दु:ख का अल्प वर्णन करते हुए भी कँपकँपी आती है तो वह दु:ख सहन करनेवाले की पीड़ा को तो क्या कहें? **वह तो वही वेदे और केवली प्रभु ही जानें।**

वहाँ नरक में भयङ्कर वेदना के काल में भी अपने पूर्व भव के पिता स्मितसागर, जो कि निदानबन्ध करके धरणेन्द्र हुए थे, उनके सम्बोधन से उस अनन्तवीर्य वासुदेव के जीव ने सम्यक्त्व प्राप्त कर पुन: मोक्षमार्ग में गमन किया।

❖ ❖ ❖

इधर प्रभाकरी नगरी में अपने भ्राता अनन्तवीर्य वासुदेव की अचानक मृत्यु हो जाने से अपराजित बलभद्र को तीव्र आघात लगा। 'मेरे भाई की मृत्यु हो चुकी है' – ऐसा स्वीकार करने को उनका मन तैयार ही नहीं होता था। यद्यपि स्वात्मतत्त्व के सम्बन्ध में उस समय भी उनका ज्ञान जागृत था परन्तु वे भ्रातृस्नेह के कारण मृतक को जीवित मानने की परज्ञेय सम्बन्धी भूल कर बैठे। वे अनन्तवीर्य के मृत शरीर को कन्धे पर उठाकर छह माह तक इधर-उधर घूमते फिरे; उसके साथ बात करने की तथा खिलाने -पिलाने की चेष्टाएँ करते रहे।

अहो! धर्मात्मा ज्ञानियों की परिणति का यह आश्चर्यजनक सत्य कैसा अद्भुत है! एक ओर त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से प्रगट सम्यग्दर्शन एवं स्वरूपाचरणचारित्र की पवित्र दशा तो दूसरी ओर चारित्रिक निर्बलता के वश ऐसे औदयिकभाव! रे परिणाम.... !!

औदयिकभाव की विचित्रता तो देखो! सम्यक्त्व की भूमिका में स्थित एक भावी तीर्थङ्कर स्वयं भावी गणधर के मृत शरीर को

लेकर छह महीने तक फिरते रहे, किन्तु धन्य है **उनकी सम्यक्त्व चेतना को....! जिसने अपनी आत्मा को उस औदयिकभाव से भिन्न का भिन्न ही रखा।**

भाग्ययोग से उसी काल में उन बलभद्र को यशोधर मुनिराज का समागम हुआ; उन्होंने चैतन्यतत्त्व का अद्भुत उपदेश देकर कहा – 'राजन्! तुम तो आत्मतत्त्व के ज्ञाता हो; इसलिए अब इस बन्धुमोह और शोक को छोड़कर संयम धारण करके अपना कल्याण करो!! छह भव के पश्चात् तो तुम भरतक्षेत्र में तीर्थङ्कर होओगे; यह मोहासक्तिपूर्ण चेष्टाएँ तुम्हें शोभा नहीं देतीं, इसलिए तुम अपने चित्त को शान्त करो और उपयोग को आत्मध्यान में लगाओ।'

मुनिराज का उपदेश सुनते ही बलदेव को वैराग्य उत्पन्न हुआ, उनकी चेतना झंकृत हो उठी – **अरे! किसका शरीर और कौन भाई? जहाँ यह शरीर ही अपना नहीं है, वहाँ दूसरा कौन अपना होगा?**

मोह मेरा कुछ नहीं, उपयोग केवल एक हूँ।

अरे! मैंने मोहचेष्टा में व्यर्थ ही समय गँवा दिया – ऐसा विचार कर उन्होंने मुनिराजश्री के सान्निध्य में जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा लेकर उन अपराजित ने अपना मन आत्मसाधना में लगाया और अन्त समय में उत्तम ध्यानपूर्वक शरीर का त्याग करके वे महात्मा सोलहवें अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए और कुछ काल पश्चात् मुक्तिश्री को प्राप्त करके अभी सादि-अनन्त अनन्त समाधिसुख में विराजमान हैं।●●

15

चिलातपुत्र

एक बार राजगृही नगरी के राजा उपश्रेणिक घोड़े पर बैठकर पर्यटन के लिये वन की ओर गये। उनका घोड़ा अत्यन्त चपल था; अतः वह उन्हें भयानक जङ्गल में ले गया। उस वन का रक्षक यमदण्ड नामक भील था। उसकी पुत्री तिलकवती अत्यन्त रूपवती थी। जिसे देखकर राजा उपश्रेणिक उस पर आसक्त हो गये और उसके पिता से विवाह की इच्छा व्यक्त की। यमदण्ड ने कहा – 'महाराज! यदि आप तिलकवती से उत्पन्न सन्तान को युवराज बनाने का वचन दें तो मैं अपनी पुत्री का विवाह सहर्ष आपके साथ करने को तैयार हूँ।' राजा ने यह शर्त मन्जूर करके तिलकवती के साथ विवाह कर लिया और प्रसन्नतापूर्वक राजगृही आ गये।

कुछ समय बाद तिलकवती ने एक पुत्र को जन्म दिया, उसका नाम चिलात रखा गया। पूर्व की रानियों से भी राजा के अनेक पुत्र थे, तथापि राजा उपश्रेणिक, चिलात को युवराज बनाने के लिए वचनबद्ध थे। साथ ही उन्हें यह भय भी था कि इसके शासन में राज्य का नाश तो नहीं होगा न! किन्तु राजा अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करने के लिए तैयार नहीं थे। इसी विचार से उन्होंने एक दिन ज्योतिषियों को बुलाकर पूछा –

हे विज्ञ! मेरे इन समस्त पुत्रों में से राज्य का स्वामी कौन होगा?

ज्योतिषियों ने विचारकर कहा – हे महाराज! इसका निर्णय परीक्षा से होगा। आप अपने समस्त पुत्रों को खीर खाने के लिए बैठायें और उन पर कुत्ते छोड़ दें। इस प्रसङ्ग पर भी जो सिंहासन पर बैठकर नँगारा बजाते हुए भोजन भी करता जाए, वह राजा होने की योग्यता रखता है। दूसरी परीक्षा आग लगाना है। जो पुत्र छत्र, चँवर सिंहासन आदि राजकीय वस्तु की आग से रक्षा कर सके, वह राजा होगा।

उपश्रेणिक ने ज्योतिषियों के कथनानुसार राजपुत्रों की परीक्षा की, उनमें कुमार श्रेणिक ही उत्तीर्ण हुआ। इससे उपश्रेणिक को विश्वास हो गया कि यह श्रेणिक ही राजा होने योग्य है; इस कारण उन्हें उसकी रक्षा की चिन्ता होने लगी। वे विचारने लगे कि कहीं चिलात के समर्थकों द्वारा श्रेणिक की हत्या न हो जाए? उसलिए उन्हें एक युक्ति सूझी; 'श्रेणिक ने कुत्तों का झूठा खाया है', इस कारण अब यह परिवार में अथवा राज्य में रहने योग्य नहीं है; अतः उन्होंने श्रेणिक को देश से निष्कासित कर दिया। पिता की आज्ञा होते ही श्रेणिक राजगृही से निकल गया और द्रविड़ देश के कोचिन नगर में रहने लगा। श्रेणिक ने स्वयं बुद्धिमान होने से वहाँ भी रहने की उत्तम व्यवस्था कर ली।

❖ ❖ ❖

कुछ काल बाद किसी वैराग्य प्रेरक प्रसङ्ग को पाकर राजा उपश्रेणिक संसार से उदास हो गये। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञानुसार

चिलात को राज्य देकर जिनदीक्षा अङ्गीकार कर ली। यद्यपि चिलात राजा तो हो गया, परन्तु उसके जाति स्वभाव में परिवर्तन नहीं हुआ; इस कारण वह प्रजा को वृथा ही दण्ड देने लगा, जिससे प्रजा में असन्तोष व्याप्त हो गया और उसके प्रति घृणा का वातावरण निर्मित हो गया।

जब श्रेणिक को पता चला कि राजा चिलात, प्रजा के प्रति अन्याय कर रहा है तो उसे बहुत दुःख हुआ और वह राजगृही आया। चिलात के आतङ्क से त्रस्त प्रजा, श्रेणिक के साथ मिल गयी। प्रजा का सहयोग पाकर श्रेणिक ने चिलातपुत्र को राज्य से हटाकर स्वयं राज्य सम्भाल लिया। चिलातपुत्र राजगृही से भागकर एक पहाड़ी पर किला बनाकर छोटे-बड़े गाँवों में बलजोरी से कर वसूली करने लगा।

चिलातपुत्र का एक भर्तु नाम का मित्र था। उसके मामा के सुभद्रा नाम की एक पुत्री थी। भर्तुमित्र ने उसका विवाह चिलातपुत्र के साथ करने के लिए मामा से प्रार्थना की, परन्तु मामा रुद्रदत्त ने चिलात के कुलक्षणों के कारण विवाह करने से साफ इन्कार कर दिया। इससे क्रोधित होकर चिलातपुत्र, गुप्तरीति से राजगृही आया और सुभद्रा को उठाकर ले गया। जब श्रेणिक को यह बात ज्ञात हुई तो वह चिलातपुत्र को पकड़ने के लिए उसके पीछे पड़ गया। चिलातपुत्र को लगा कि अब बचना मुश्किल है तो उसने सुभद्रा को मार दिया और भागते हुए बैभार पर्वत पर चढ़ गया। उस पर्वत पर मुनियों का एक संघ विराजमान था।

मुनिराज की परम शान्त वीतरागरस झरती मुद्रा देखकर चिलातपुत्र के परिणामों में एकदम परिवर्तन आ गया। क्रूरपरिणाम

से **वह शान्तभाव में परिवर्तित हो गया।** वह संघाचार्य मुनि के समीप गया और उनको नमस्कार करके प्रार्थना की कि – 'हे भगवान! मैं इस असार संसार के परिभ्रमण से त्रस्त हो गया हूँ। अब इस परिभ्रमण का अन्त करने के लिए मैं निज शुद्धात्मस्वरूप में लीन होना चाहता हूँ। हे प्रभु! मुझ पर अनुग्रह करके आप मुझे सर्व कष्ट निवारक जिनदीक्षा प्रदान करो, जिससे मैं अपनी आत्मा का हित कर सकूँ।

मुनिराज ने कहा – हे भव्य! निज हित के लिए तूने बहुत उत्तम विचार किया है। अब तेरी आयु मात्र आठ दिन ही शेष है। अतः शीघ्र ही आत्महित कर लेने योग्य है।

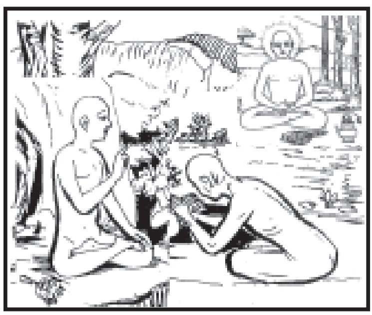

मुनिराज द्वारा अपने थोड़े जीवन की बात सुनकर चिलातपुत्र ने उसी समय जिनदीक्षा अङ्गीकार कर ली और तुरन्त ही प्रायोपगमन संन्यास लेकर आत्मभावना में लीन हुआ। उसे पकड़ने के लिए आनेवाले श्रेणिक को यह देखकर चिलातपुत्र की धीरता पर अत्यन्त आश्चर्य हुआ और वह उसके साहस की प्रशंसा करता हुआ उन मुनिराज के चरणों में वन्दन करके वापस राजगृही चला गया।

इधर चिलातपुत्र द्वारा मारी गयी सुभद्रा, व्यन्तर देवी हुई थी और उसने अपना बदला लेने के लिए पक्षी का रूप धारण किया। पूर्व बैर के वश होकर वह चिलातमुनि के सिर पर बैठकर उन्हें कष्ट देने लगी। उसने अपनी चोंच से मुनि की दोनों आँखें निकाल

दी और फिर मधुमक्खियाँ बनकर उन्हें काटने लगी। इस प्रकार उसने लगातार आठ दिनों तक चिलात मुनि को बेहद कष्ट दिया परन्तु चिलातमुनि स्वरूपाराधना से विचलित नहीं हुए और अन्त में समाधिमरण करके सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग में देवपर्याय को प्राप्त हुए।

अहो! यह परिणामों का कैसा विचित्र चक्र है! थोड़ी देर पहले हत्या के क्रूरपरिणामवाला जीव कुछ ही देर में मुनिदशा के योग्य शान्तभावरूप परिणमित हो गया। जीवों के परिणामों की इस विचित्र परिस्थिति का बोध होने से ज्ञानीजन परिणामों की चक्रीयता में व्यामोहित नहीं होते, अपितु परिणामों से पार

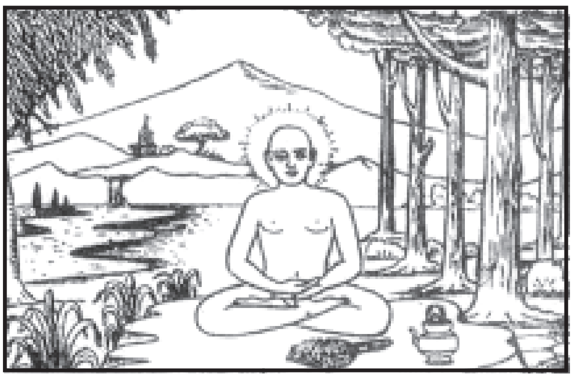

त्रिकाली ध्रुव में अपनापन स्थापित करके सादि–अनन्त काल तक पूर्ण सुखी रहते हैं।

(– आराधना कथा कोष में से)

16

अमर बलिदान

भारतवर्ष में एक मान्यखेट नाम का नगर था। उसके राजा थे शुभतुङ्ग और उनके मन्त्री का नाम पुरुषोत्तम था। पुरुषोत्तम की गृहिणी पद्मावती थी। उनके दो पुत्र हुए। उनके नाम थे अकलङ्क और निकलङ्क; वे दोनों भाई महा बुद्धिमान और गुणी थे।

एक बार अष्टाह्निका पर्व की अष्टमी के दिन पुरुषोत्तम और उसकी सहधर्मिणी महा विभूति के साथ चित्रगुप्त मुनिराज की वन्दना करने को गये। दोनों भाई भी अपने माता–पिता के साथ मुनिराज के दर्शनार्थ गये। मुनिराज की वन्दना कर इनके माता –पिता ने आठ दिन के लिये ब्रह्मचर्य लिया और साथ ही विनोदवश अपने दोनों पुत्रों को भी ब्रह्मचर्य दिलवा दिया।

कुछ दिनों के बाद पुरुषोत्तम ने अपने पुत्रों के विवाह का आयोजन करने का निश्चय किया। यह देखकर दोनों भाईयों ने पिता से कहा – 'पिताजी! इतना भारी आयोजन, इतना परिश्रम आप किसलिए कर रहे हैं?'

अपने पुत्रों की भोली बात सुनकर पुरुषोत्तम ने कहा – 'यह सब आयोजन तुम्हारे विवाह के लिये है।'

पिता का उत्तर सुनकर दोनों भाईयों ने फिर कहा – 'पिताजी! अब हमारा विवाह कैसा? आपने तो हमें मुनिराजश्री से ब्रह्मचर्य व्रत दिलवा दिया था न?'

पिता ने कहा – 'नहीं, वह तो केवल विनोद से किया गया कार्य था।'

तब बुद्धिमान कुमारो ने कहा – 'पिताजी! धर्म और व्रत में विनोद कैसा? यह हमारी समझ में नहीं आया। अच्छा, आपने विनोद ही से दिया सही, तो अब उसके पालन करने में भी हमें लज्जा कैसी?'

पुरुषोत्तम ने फिर कहा – 'अस्तु। जैसा तुम कहते हो वही सही, पर तब भी केवल आठ ही दिन के लिये ही तो ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया था न?'

दोनों भाईयों ने कहा – 'पिताजी, हमें आठ दिन के लिये ब्रह्मचर्य दिया गया था, इसका न तो आपने हमसे स्पष्ट कहा था और न आचार्य महाराज ने ही; तब हम कैसे समझें कि वह व्रत मात्र आठ ही दिन के लिये ही था; इसलिए अब हम तो विवाह नहीं करेंगे। हमने तो पञ्चेन्द्रियों के विषयरूपी विष का परित्याग करके आत्मसाधना का अडिग निर्णय किया है।' यह कहकर दोनों भाईयों ने घर का सब कारोबार छोड़कर और अपना चित्त शास्त्रभ्यास की ओर लगाया, जिससे थोड़े ही दिनों में ये अच्छे विद्वान् बन गये।

❖ ❖ ❖

उस समय बौद्धधर्म का बहुत जोर था; इसलिए इन्हें उसके तत्त्व जानने की इच्छा हुई। उस समय मान्यखेट में ऐसा कोई बौद्ध

विद्वान् नहीं था, जिससे ये बौद्धधर्म का अभ्यास करते। इसलिए दोनों सहोदर एक अज्ञ विद्यार्थी का वेष बनाकर महोबोधि नामक स्थान में बौद्धधर्माचार्य के समीप गये। आचार्य ने इनकी अच्छी तरह परीक्षा करके कि कहीं ये छली तो नहीं हैं; और जब उन्हें इनकी ओर से विश्वास हो गया तब वे, अन्य शिष्यों के साथ-साथ इन्हें भी पढ़ाने लगे। ये भी अन्तरङ्ग में तो पक्के जिनधर्मी और बाह्य में एक महामूर्ख बनकर स्वर-व्यञ्जन सीखने लगे। निरन्तर बौद्धधर्म सुनते रहने से अकलङ्कदेव की बुद्धि बड़ी विलक्षण हो गयी। उन्हें एक ही बार के सुनने से कठिन से कठिन बात भी याद हो जाने लगी और निकलङ्क को दो बार सुनने से सम्पूर्ण विषय स्मरण हो जाने लगा। इस प्रकार वहाँ रहते दोनों भाईयों का बहुत समय व्यतीत हो गया।

एक दिन बौद्धगुरु अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे। उस समय प्रकरण था जैनधर्म के सप्तभङ्गी सिद्धान्त का। वहाँ कोई अशुद्धपाठ आ गया जो बौद्धगुरु की समझ में नहीं आया, तब वे अपने व्याख्यान को वहीं समाप्त कर कुछ समय के लिये बाहर चले गये। अकलङ्क बुद्धिमान् थे, वे बौद्धगुरु के भाव समझ गये; इसलिए उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी के साथ उस पाठ को शुद्ध कर दिया और किसी को उसका परिज्ञान नहीं होने दिया। इतने में बौद्धगुरु आ गये। उन्होंने अपना व्याख्यान आरम्भ किया। जो पाठ अशुद्ध था, वह अब देखते ही उनकी समझ में आ गया। यह देख उन्हें सन्देह हुआ कि अवश्य यहाँ कोई जिनधर्मरूप समुद्र का बढ़ानेवाला चन्द्रमा है और वह हमारे धर्म को नष्ट करने की इच्छा

से बौद्धवेष धारण कर बौद्धशास्त्र का अभ्यास कर रहा है। अतः शीघ्र ही पता लगाकर उसे मरवा डालना चाहिए।

इस विचार के साथ ही बौद्धगुरु ने सब विद्यार्थियों को शपथ, प्रतिज्ञा आदि देकर पूछा, परन्तु उन्हें जैनधर्मी का पता नहीं लगा। तत्पश्चात् उन्होंने जिनप्रतिमा मँगवाकर उसे लाँघ जाने के लिये सबसे कहा। सब विद्यार्थी तो लाँघ गये, अब अकलङ्क की बारी आई; उन्होंने अपने कपड़े में से एक सूत का सूक्ष्म धागा निकालकर प्रतिमा पर डाल दिया और उस प्रतिमा को परिग्रही समझकर शीघ्रता से लाँघ गये। यह कार्य इतनी जल्दी किया गया कि किसी की समझ में कुछ भी नहीं आया। बौद्धगुरु इस युक्ति में भी जब कृतकार्य नहीं हुए, तब उन्होंने एक और नयी युक्ति की; उन्होंने बहुत से काँसे के बर्तन इकट्ठे करवाये और उन्हें एक बड़ी भारी गौन में भरकर वह बहुत गुप्त रीति से विद्यार्थियों के सोने की जगह के पास रखवा दी और विद्यार्थियों की देखरेख के लिये अपना एक-एक गुप्तचर रख दिया।

अर्द्ध रात्रि का समय था। सब विद्यार्थी निडर होकर निद्रादेवी की गोद में सुख का अनुभव कर रहे थे। किसी को कुछ ज्ञात नहीं था कि हमारे लिये क्या-क्या षड्यन्त्र रचे जा रहे हैं। एकाएक बड़ा विकराल शब्द हुआ, मानों आसमान से बिजली टूटकर पड़ी। सब विद्यार्थी उस भयङ्कर आवाज से काँप उठे। वे अपना जीवन बहुत थोड़े समय के लिये समझकर अपने उपास्य परमात्मा का स्मरण कर उठे। अकलङ्क और निकलङ्क भी पञ्च नमस्कार मन्त्र का ध्यान करने लग गये। समीप ही बौद्धगुरु का जासूस खड़ा हुआ था, वह उन्हें बुद्ध भगवान् का स्मरण करने की जगह जिन भगवान्

का स्मरण करते देखकर बौद्धगुरु के पास ले गया और गुरु से कहा – 'प्रभो ! आज्ञा कीजिये कि इन दोनों धूर्तों का क्या किया जाए ? ये ही जैनी हैं।' यह सुनकर बौद्धगुरु बोला – 'इस समय रात थोड़ी बीती है, इसलिए इन्हें ले जाकर कैदखाने में बन्द कर दो, जब आधी रात हो जाए, तब इन्हें मार डालना।' गुप्तचर ने दोनों भाईयों को ले जाकर कैदखाने में बन्द कर दिया।

❖ ❖ ❖

अपने पर एक महाविपत्ति आयी देखकर निकलङ्क ने बड़े भाई से कहा – 'भैया ! हम लोगों ने इतना कष्ट उठाकर तो विद्या प्राप्त की, किन्तु खेद है कि उसके द्वारा हम जिनधर्म की कुछ भी सेवा नहीं कर सके और एकाएक हमें मृत्यु का सामना करना पड़ा।'

अपने भाई की दु:खभरी बात सुनकर महा धीरवीर अकलङ्क ने कहा – 'प्रिय ! तुम बुद्धिमान् हो, तुम्हें भय करना उचित नहीं है। घबराओ मत ! अब भी हम अपने जीवन की रक्षा कर सकेंगे। देखो ! मेरे पास यह छत्री है, इसके द्वारा अपने को छुपाकर हम लोग यहाँ से निकल चलते हैं और शीघ्र ही अपने स्थान पर जा पहुँचते हैं।' यह विचार करके दोनों भाई दबे पाँव निकल गये और शीघ्रता से मार्ग तय करने लगे।

जब आर्द्ध रात्रि व्यतीत हुई तो बौद्धगुरु की आज्ञानुसार उन दोनों भाईयों के मारने का समय आया; तब उन्हें पकड़ लाने के लिये नौकर लोग दौड़े गये, पर वे कैदखाने में जाकर देखते हैं तो वहाँ उनका पता नहीं था। उन्हें उनके एकाएक गायब हो जाने से बड़ा आश्चर्य हुआ परन्तु कर क्या सकते थे ? उन्हें उनके कहीं

आस-पास ही छुपे रहने का सन्देह हुआ। उन्होंने आस-पास के वन, जङ्गल, खण्डहर, बावड़ी, कुएँ, पहाड़, गुफाएँ आदि सब एक-एक करके ढूँढ़ डाले, परन्तु उनका कहीं पता नहीं चला। उन पापियों को तब भी सन्तोष न हुआ तो उनको मारने की इच्छा से अश्व द्वारा उन्होंने यात्रा की। उनकी दयारूपी बेल क्रोधरूपी दावाग्नि से खूब ही झुलस गयी थी, इसीलिए उन्हें ऐसा करने को बाध्य होना पड़ा।

दोनों भाई भागते जा रहे थे और पीछे मुड़-मुड़ कर देखते जाते थे कि कहीं किसी ने हमारा पीछा तो नहीं किया है! उनका सन्देह ठीक निकला। निकलङ्क ने दूर तक देखा तो उसे आकाश में धूल उठती हुई दीख पड़ी। उसने बड़े भाई से कहा -

'भैया! हम लोग जितना कुछ करते हैं, वह सब निष्फल जा रहा है। जान पड़ता है, दैव ने अपने से पूर्ण शत्रुता बाँधी है। खेद है कि परम पवित्र जिनशासन की हम लोग कुछ भी सेवा नहीं कर सके और मृत्यु ने बीच ही में आकर धर दबोचा। भैया! देखो तो, पापी लोग हमें मारने के लिये पीछा करते हुए चले आ रहे हैं; अब रक्षा होना असम्भव है। हाँ, मुझे एक उपाय सूझ पड़ा है, उसे आप करेंगे तो जैनधर्म का बड़ा उपकार होगा। आप बुद्धिमान हैं, एक संस्थ हैं। आपके द्वारा जैनधर्म की विशेष प्रभावना होगी। देखते हैं - वह सरोवर है। उसमें बहुत से कमल हैं। आप जल्दी जाइये और तालाब में उतरकर कमलों में अपने को छुपा लीजिये। जाइये, जल्दी कीजिये; देरी का काम नहीं है, शत्रु समीप पहुँचे आ रहे हैं। आप मेरी चिन्ता मत कीजिये; मैं भी जहाँ तक बन पड़ेगा, जीवन की रक्षा करूँगा और यदि मुझे अपना जीवन दे देना भी पड़े तो

उसकी कुछ परवाह नहीं, जब कि मेरे प्यारे भाई जीवित रहकर पवित्र जिनशासन की भरपूर सेवा करेंगे। आप जाइये, मैं भी अब यहाँ से भागता हूँ।'

इस करुण प्रसङ्ग से द्रवित होकर अकलङ्क की आँखों से आँसुओं की धार बह चली। उनका गला भ्रातृप्रेम से भर गया। वे भाई से एक अक्षर भी न कह पाये कि निकलङ्क वहाँ से भाग खड़ा हुआ। लाचार होकर अकलङ्क को अपने जीवन की नहीं, अपितु पवित्र जिनशासन की रक्षा के लिये कमलों में छुपना पड़ा। उनके लिये कमलों का आश्रय केवल दिखाऊ था। वास्तव में तो उन्होंने जिसके बराबर संसार में कोई आश्रय नहीं हो सकता, उन पवित्र जिनशासन का आश्रय लिया था।

निकलङ्क अपने भाई से विदा होकर भागा जा रहा था, रास्ते में उसे एक धोबी कपड़े धोते हुए मिला। धोबी ने आकाश में धूल की घटा छाई देखकर निकलङ्क से पूछा – 'यह क्या हो रहा है ? और तुम ऐसे क्यों भागे जा रहे हो ?'

निकलङ्क ने कहा – 'पीछे शत्रुओं की सेना आ रही है, उन्हें जो मिलता है, उसे ही वह मार डालती है; इसीलिए मैं भागा जा रहा हूँ।' – ऐसा सुनते ही धोबी भी कपड़े वगैरह सब वैसे ही छोड़कर निकलङ्क के साथ भाग खड़ा हुआ। वे दोनों बहुत भागे, परन्तु आखिर कहाँ तक भाग सकते थे ? सवारों ने उन्हें पकड़ लिया और उसी समय अपनी चमचमाती हुई तलवार से दोनों का सिर काटकर मालिक के पास ले गये। अहा! पवित्र जिनधर्म के अहिंसा धर्म से रहित और मिथ्यात्व को अपनाये हुए पापी लोगों के लिए ऐसा कौन-सा महापाप अकृत्य रह जाता है, जिसे वे नहीं

करते। जिनके हृदय में जीवमात्र को सुख पहुँचानेवाले जिनधर्म का लेश भी नहीं है, उन्हें दूसरों पर दया आ भी कैसे सकती है ?

❖ ❖ ❖

उधर शत्रु अपना कामकर वापिस लौटे और इधर अकलङ्क अपने को निर्विघ्न समझकर सरोवर से निकले और निडर होकर आगे बढ़े। वहाँ से चलते-चलते वे कुछ दिनों बाद कलिंग देशान्तर्गत रत्नसंचयपुर नामक शहर में पहुँचे।

उस समय रत्नसंचयपुर के राजा हिमशीतल थे। उनकी रानी का नाम मदनसुन्दरी था। वह जिन भगवान् की परम भक्त थी। उसने स्वर्ग और मोक्षसुख प्रदाता पवित्र जिनधर्म की प्रभावना के लिये अपने बनवाये हुए जिनमन्दिर में फाल्गुन शुक्ल अष्टमी के दिन से रथयात्रोत्सव का आरम्भ करवाया था, जिसमें उसने बहुत द्रव्य व्यय किया था।

वहीं संघश्री नामक बौद्धों का प्रधान आचार्य रहता था। उससे महारानी का यह कार्य सहन नहीं हुआ। उसने महाराज से कहकर रथायात्रोत्सव रुकवा दिया और साथ ही वहाँ जिनधर्म का प्रचार न देखकर शास्त्रार्थ के लिये घोषणा भी करवा दी।

महाराज ने महारानी से कहा – 'प्रिये! जब तक कोई जैन विद्वान्, बौद्धगुरु के साथ शास्त्रार्थ करके जिनधर्म का प्रभाव नहीं करेगा, तब तक तुम्हारा उत्सव होना कठिन है।'

महाराज की बात सुनकर रानी को अत्यन्त खेद हुआ परन्तु वह कर ही क्या सकती थी! उस समय कौन उसकी आशा पूरी कर सकता था ? वह उसी समय जिनमन्दिर गयी और वहाँ मुनियों को नमस्कार कर उनसे बोली – 'प्रभो! बौद्धगुरु ने मेरा रथयात्रोत्सव

रुकवा दिया है। वह कहता है कि पहले मुझसे शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त कर लो, फिर रथोत्सव करना। बिना ऐसा किये उत्सव नहीं हो सकेगा; इसलिए मैं आपके पास आई हूँ। बतलाइए! जैनदर्शन का अच्छा विद्वान् कौन है, जो बौद्धगुरु को जीतकर मेरी इच्छा पूरी करे ?'

जिनधर्म वत्सल रानी के वचन सुनकर मुनि बोले – 'हे भद्रे ! इधर आसपास तो ऐसा विद्वान् नहीं दिखता जो बौद्धगुरु का सामना कर सके। हाँ, मान्यखेट नगर में ऐसे विद्वान् अवश्य हैं, आप उनके बुलवाने का प्रयत्न करें तो सफलता प्राप्त हो सकती है।'

रानी ने कहा – 'वाह, आपने बहुत ठीक कहा, सर्प तो सिर के पास फुंफकार कर रहा है और कहते हैं कि गारुड़ी दूर है। भला, इससे क्या सिद्धि हो सकती है ? अस्तु। जान पड़ता है कि आप लोग इस विपत्ति का प्रतिकार नहीं कर सकते। दैव को जिनधर्म का पतन कराना ही इष्ट ज्ञात होता है। जब मेरे पवित्र धर्म की दुर्दशा होगी, तब मैं ही जीवित रहकर क्या करूँगी ?' – यह कहकर महारानी राजमहल से अपना सम्बन्ध छोड़कर जिनमन्दिर गयी और उसने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की – 'जब संघश्री का मिथ्याभिमान चूर्ण होकर मेरा रथोत्सव बड़े ठाठबाट के साथ निकलेगा और जिनधर्म की महान् प्रभावना होगी, तब ही मैं भोजन करूँगी, नहीं तो निराहार रहकर मर मिटूँगी, परन्तु अपनी आँखों से पवित्र जैनशासन की दुर्दशा कभी नहीं देखूँगी।' – ऐसा हृदय में निश्चय कर मदनसुन्दरी, जिनभगवान के सन्मुख कायोत्सर्ग धारण कर

पञ्च नमस्कार मन्त्र की आराधना करने लगी। उस समय उसकी ध्यान अवस्था अत्यन्त मनोहर दीख पड़ती थी, मानों सुमेरुगिरि की श्रेष्ठ निश्चल चूलिका हो।

❖ ❖ ❖

'भव्यजीवों को जिनभक्ति का फल अवश्य मिलता है।' इस नीति के अनुसार महारानी भी उससे वंचित नहीं रही। महारानी के निश्चल ध्यान के प्रभाव से पद्मावती का आसन कम्पित हुआ। वह अर्द्धरात्रि के समय आई और महारानी से बोली – 'देवी, जब तुम्हारे हृदय में जिनभगवान के चरण कमल शोभित हैं, तब तुम्हें चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है; तुम्हारा मनोरथ नियम से पूर्ण होगा। सुनो! कल प्रातःकाल ही अकलङ्कदेव इधर आवेंगे, वे जैनधर्म के महान् विद्वान हैं। वे ही संघश्री का दर्प चूर्ण कर जिनधर्म की महा प्रभावना करेंगे और तुम्हारा रथोत्सव का कार्य निर्विघ्न समाप्त करेंगे। तुम उन्हें अपने मनोरथों को पूर्ण करनेवाले मूर्तिमान शरीर समझो।' यह कहकर पद्मावती अपने स्थान चली गयी।

देवी की बात सुनकर महारानी अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसने बड़ी भक्ति के साथ जिनभगवान की स्तुति की और प्रातःकाल होते ही अतिशय भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेव की पूजा की। तत्पश्चात् उसने अपने राजकीय प्रतिष्ठित पुरुषों को अकलङ्कदेव को ढूँढने के लिए चारों ओर दौड़ाया। उनमें जो पूर्व दिशा की ओर गये थे, उन्होंने एक बगीचे में अशोकवृक्ष के नीचे बहुत से शिष्यों के साथ एक महात्मा को बैठे देखा। उनके किसी एक शिष्य से महात्मा का परिचय और नाम पूछकर वे अपनी मालकिन के पास आये और सब वृत्तान्त कह सुनाया। यह सुनकर वह धर्मवत्सला खान–पान

आदि सब सामग्री लेकर अपने साधर्मियों के साथ उस बगीचे में पहुँची और भक्तिपूर्वक उन महात्मा को प्रणाम किया। उनके दर्शन से रानी को अत्यन्त आनन्द हुआ। जैसे सूर्य को देखकर कमलिनी को और मुनियों का तत्त्वज्ञान देखकर बुद्धि को आनन्द होता है, उसी तरह रानी को असीम हर्ष हुआ।

रानी, धर्मप्रेम के वश होकर महात्मा अकलङ्कदेव को पुनः प्रणाम कर उनके सामने बैठ गयी। उसे आशीर्वाद देकर पवित्रात्मा अकलङ्क बोले – 'देवी! तुम अच्छी तरह तो हो और सब संघ भी अच्छी तरह है न?'

महात्मा के वचन सुनकर रानी की आँखों से आँसू बह निकले, उसका गला भर आया, वह बड़ी कठिनता से बोली – 'प्रभो! संघ है तो कुशल, पर इस समय उसका घोर अपमान हो रहा है; इसका मुझे बड़ा कष्ट है।' यह कहकर उसने संघश्री का सब हाल अकलङ्क से कह सुनाया।

अकलङ्क अपने प्राणप्रिय पवित्र धर्म का अपमान न सह सके। वे बोले – 'वह वराक संघश्री मेरे पवित्र धर्म का अपमान करता है, वह भी मेरे सामने! अच्छा देखूँगा उसके अभिमान को कि वह कितना पाण्डित्य रखता है?' इस तरह रानी को सन्तुष्ट करके अकलङ्क ने संघश्री के शास्त्रार्थ के विज्ञापन की स्वीकृति उसके पास भेज दी और स्वयं बड़े उत्सव के साथ जिनमन्दिर आ पहुँचे।

पत्र संघश्री के पास पहुँचा। उसे देखकर और उसकी लेखन शैली पढ़कर उसका चित्त क्षुभित हो उठा। अन्ततः उसे शास्त्रार्थ के लिये तैयार होना ही पड़ा।

❖ ❖ ❖

अकलङ्क के आने के समाचार महाराज हिमशीतल के पास पहुँचे। उन्होंने उसी समय बड़े आदर सम्मान के साथ उन्हें राजसभा में बुलवाकर संघश्री के साथ उनका शास्त्रार्थ करवाया। संघश्री उनके साथ शास्त्रार्थ करने को तो तैयार हो गया, पर जब उसने अकलङ्क के प्रश्नोत्तर करने का पाण्डित्य देखा और उससे अपनी शक्ति की तुलना की तो उसे ज्ञात हुआ कि मैं अकलङ्क के साथ शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हूँ, परन्तु राजसभा में ऐसा कहना भी उसने उचित नहीं समझा क्योंकि उससे उसका अपमान होता। तब उसने एक नई युक्ति सोचकर राजा से कहा – 'महाराज, यह धार्मिक विषय है, इसका निर्णय होना कठिन है। इसलिए मेरी इच्छा है कि यह शास्त्रार्थ सिलसिलेवार तब तक चलना चाहिए, जब तक कि एक पक्ष पूर्ण निरुत्तर न हो जाए।' राजा ने अकलङ्क की अनुमति लेकर संघश्री के कथन को मान लिया। उस दिन का शास्त्रार्थ बन्द हुआ। राजसभा भङ्ग हुई।

❖ ❖ ❖

अपने स्थान पर आकर संघश्री ने जहाँ–जहाँ बौद्धधर्म के विद्वान् रहते थे, उनके बुलवाने के लिए अपने शिष्यों को दौड़ाया और स्वयं ने रात्रि के समय अपने धर्म की अधिष्ठात्री देवी की आराधना की। देवी उपस्थित हुई। संघश्री ने उससे कहा – 'देखती हो, धर्म पर बड़ा सङ्कट उपस्थित हुआ है, उसे दूर कर धर्म की रक्षा करनी होगी। अकलङ्क बड़ा पण्डित है। उसके साथ शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त करना असम्भव था; इसीलिए मैंने तुम्हें कष्ट दिया है। यह शास्त्रार्थ मेरे द्वारा तुम्हें करना होगा और अकलङ्क को पराजित कर बुद्धधर्म की महिमा प्रगट करनी होगी। बोलो ! क्या कहती हो ?'

उत्तर में देवी ने कहा – 'हाँ, मैं शास्त्रार्थ तो करूँगी परन्तु खुली सभा में नहीं, अपितु परदे के भीतर घड़े में रहकर।'

'तथास्तु' कहकर संघश्री ने देवी को विसर्जित किया और स्वयं प्रसन्नता के साथ दूसरी निद्रादेवी की गोद में जा लेटा।

❖ ❖ ❖

प्रातःकाल हुआ। शौच, स्नान, देवपूजन आदि नित्य कर्म से छुट्टी पाकर संघश्री राजसभा में पहुँचा और राजा से बोला – 'महाराज, हम आज से शास्त्रार्थ परदे के भीतर रहकर करेंगे। हम शास्त्रार्थ के समय किसी का मुँह नहीं देखेंगे। आप पूछेंगे क्यों? इसका उत्तर अभी न देकर शास्त्रार्थ के अन्त में दिया जाएगा।'

राजा, संघश्री के कपट जाल को कुछ नहीं समझ सके। उसने जैसा कहा, वैसा उन्होंने स्वीकार कर, उसी समय वहाँ एक परदा लगवा दिया। संघश्री ने उसके भीतर जाकर बुद्ध भगवान् की पूजा की और देवी की पूजा करके एक घड़े में आह्वान किया। अरे... रे...! इष्ट सिद्धि की आकाँक्षा से धूर्त लोग कुछ छल-कपट तो करते हैं, परन्तु अन्त में उसका फल अच्छा न होकर बुरा ही होता है।

घड़े में स्थापित देवी अपने में जितनी शक्ति थी, उसे प्रगटकर अकलङ्क के साथ शास्त्रार्थ करने लगी। इधर अकलङ्कदेव भी देवी के प्रतिपादन किये हुए विषय का अपनी दिव्य भारती द्वारा खण्डन और अपने पक्ष का समर्थन बड़े ही पाण्डित्य के साथ निडर होकर करने लगे। इस प्रकार शास्त्रार्थ होते-होते छह महीने बीत गये, परन्तु किसी की विजय नहीं हुई। यह देख अकलङ्कदेव को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा – संघश्री साधारण पढ़ा-लिखा,

और जो पहले ही दिन मेरे सन्मुख थोड़ी देर भी न ठहर सका था, वह आज बराबर छह महीने से शास्त्रार्थ करता चला आ रहा है, इसका क्या कारण है ? नहीं जान पड़ता। उन्हें इसकी बड़ी चिन्ता हुई परन्तु वे कर ही क्या सकते थे ?

एक दिन वे इसी चिन्ता में डूबे हुए थे कि इतने में जिनशासन की भक्त चक्रेश्वरी देवी आई और अकलङ्कदेव से बोली – 'प्रभो! आपके साथ शास्त्रार्थ करने की मनुष्यमात्र में शक्ति नहीं है और बेचारा संघश्री भी तो मनुष्य है, तब उसकी क्या मजाल जो वह आपसे शास्त्रार्थ करे ? पर यहाँ तो बात कुछ और ही है। आपके साथ जो शास्त्रार्थ करता है, वह संघश्री नहीं है, किन्तु बुद्धधर्म की अधिष्ठात्री तारा नाम की देवी है। इतने दिनों से वही शास्त्रार्थ कर रही है। संघश्री ने उसकी आराधना करके यहाँ उसे बुलाया है; इसलिए कल जब शास्त्रार्थ होने लगे और देवी उस समय जो कुछ प्रतिपादन करे, तब आप उससे उसी विषय का फिर से प्रतिपादन करने के लिये कहिये। वह उसे दुबारा नहीं कह सकेगी और उसे अवश्य नीचा देखना पड़ेगा।' यह कहकर, अकलङ्कदेव को प्रणाम करके देवी अपने स्थान पर चली गयी। अकलङ्कदेव की चिन्ता दूर हुई, वे बड़े प्रसन्न हुए।

❖ ❖ ❖

प्रातःकाल हुआ। अकलङ्कदेव अपने नित्यकर्म से मुक्त होकर जिनमन्दिर पहुँचे, उन्होंने बड़े भक्तिभाव से भगवान् की स्तुति की। इसके बाद वे वहाँ से सीधे राज्यसभा में आये। उन्होंने महाराज हिमशीतल को सम्बोधन करके कहा – 'राजन्! इतने दिनों तक मैंने जो शास्त्रार्थ किया, उसका यह अर्थ नहीं था कि

मैं संघश्री को पराजित नहीं कर सकता था... परन्तु ऐसा करने से मेरा अभिप्राय जिनधर्म का प्रभाव बतलाने का था, वह मैंने बतलाया। अब, मैं इस वाद का अन्त करना चाहता हूँ। आज मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं इस वाद की समाप्ति करके ही भोजन करूँगा।'

— ऐसा कहकर उन्होंने परदे की ओर देखकर कहा – 'क्या जैनधर्म के सम्बन्ध में कुछ और कहना बाकी है या मैं शास्त्रार्थ समाप्त करूँ ?' यह कहकर जैसे ही अकलङ्क चुप हुए कि परदे की ओर से फिर वक्तव्य आरम्भ हुआ। देवी अपने पक्ष का समर्थन करके चुप हुई ही थी, तभी अकलङ्कदेव ने कहा – 'जो विषय अभी कहा गया है, उसे फिर से कहो ? वह मुझे ठीक नहीं सुनाई दिया।'

आज अकलङ्क का यह नया ही प्रश्न सुनकर देवी का साहस एक साथ न जाने कहाँ चला गया ? देवता जो कुछ बोलते हैं, वे एक ही बार बोलते हैं – उसी बात को वे पुनः नहीं बोल पाते। तारा देवी का भी यही हाल हुआ। वह अकलङ्कदेव के प्रश्न का उत्तर न दे सकी। अन्त में उसे अपमानित होकर उसी तरह भाग जाना पड़ा, जैसे सूर्योदय से रात्रि भाग जाती है।

तत्पश्चात् अकलङ्कदेव उठे और परदे को फाड़कर भीतर घुस गये। वहाँ जिस घड़े में देवी का आह्वान किया गया था, उसे उन्होंने पाँव की ठोकर से फोड़ डाला। संघश्री सरीखे जिनशासन के शत्रुओं का, मिथ्यात्वियों का अभिमान चूर्ण किया। अकलङ्क की इस विजय और जिनधर्म की प्रभावना से मदनसुन्दरी और सर्व साधारण को महा आनन्द हुआ।

अकलङ्क ने सब लोगों के सामने जोर देकर कहा – 'सज्जनों! मैंने इस धर्मशून्य संघश्री को पहले ही दिन पराजित कर दिया था, किन्तु इतने दिन जो मैंने देवी के साथ शास्त्रार्थ किया, वह जिनधर्म का माहात्म्य प्रगट करने के लिये और सम्यग्ज्ञान का लोगों के हृदय पर प्रकाश डालने के लिये था।' यह कहकर अकलङ्कदेव ने इस श्लोक को पढ़ा –

नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं,
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुध्या मया।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो,
बौद्धौघान्सकलान्विजित्य सुगतः पादेन विस्फालितः ॥

अर्थात् महाराज, हिमशीतल की सभा में मैंने सब बौद्ध विद्वानों को पराजित कर सुगत को ठुकराया, यह न तो अभिमान के वश होकर किया और न किसी प्रकार के द्वेषभाव से, किन्तु नास्तिक बनकर नष्ट होते हुए जनों पर मुझे बड़ी दया आयी, इसलिए उनकी दया से बाध्य होकर मुझे ऐसा करना पड़ा।

❖ ❖ ❖

महाराज हिमशीतल और प्रजा के लोग जिनशासन की प्रभावना देखकर अत्यन्त हर्षित हुए। सबने मिथ्यात्वमत छोड़कर जिनधर्म स्वीकार किया और अकलङ्कदेव का सोने, रत्न आदि के अलङ्कारों से खूब आदर सम्मान किया। अहो! जिनभगवान के पवित्र सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से कौन सत्कार का पात्र नहीं होता।

अकलङ्कदेव के प्रभाव से जिनशासन का उपद्रव टला देखकर महारानी मदनसुन्दरी ने पहले से भी कई गुने उत्साह से रथ

निकलवाया। रथ बड़ी सुन्दरता के साथ सजाया गया था। उसकी शोभा देखते ही बन पड़ती थी। वह वेशकीमती वस्त्रों से शोभित था, छोटी-छोटी घंटियाँ उसके चारों ओर लगी हुई थीं, उनकी मधुर आवाज एक बड़े घण्टे की आवाज में मिलकर, जो कि उन घण्टियों के ठीक बीच में था, बड़ी सुन्दर जान पड़ती थी, उस पर रत्नों और मोतियों की मालाएँ अपूर्व शोभा दे रही थीं, उसके ठीक बीच में रत्नमयी सिंहासन पर जिनभगवान् की बहुत सुन्दर प्रतिमा शोभित थी। वह मौलिक छत्र, चामर, भामण्डल आदि से अलंकृत थी। रथ चलता जाता था और उसके आगे-आगे भव्यपुरुष अत्यन्त भक्ति के साथ जिनभगवान की जय-जयकार करते हुए चले जाते थे। चारण लोग भगवान् की स्तुति पढ़ते जाते थे। कुल कामिनियाँ सुन्दर-सुन्दर गीत गाती जाती थीं। नर्तकियाँ नृत्य करती जाती थीं। अनेक प्रकार के वादित्रों के सुन्दर शब्द दर्शकों के मन को अपनी ओर आकर्षित करते थे। इन सब शोभाओं से रथ ऐसा जान पड़ता था, मानों पुण्यरूपी रत्नों के उत्पन्न करने को चलनेवाला यह एक दूसरा रोहण पर्वत उत्पन्न हुआ है। उस समय जो याचकों को दान दिया जाता था, वस्त्राभूषण वितरण किये जाते थे, उससे रथ की शोभा एक चलते हुए कल्पवृक्ष की-सी जान पड़ती थी। अरे! जिसकी शोभा देखकर ही अनेक मिथ्यादृष्टियों ने सम्यग्दर्शन

ग्रहण कर लिया, तब उसकी सुन्दरता का क्या वर्णन हो सकता है ? उसे देखकर यही जान पड़ता था, मानों महादेवी मदनसुन्दरी की यशोराशि ही चल रही है। वह रथ भव्य-पुरुषों के लिए सुख का देनेवाला था।

जिस प्रकार अकलङ्कदेव ने सम्यग्ज्ञान की प्रभावना की, उसका महत्व सर्व साधारण लोगों के हृदय पर अङ्कित कर दिया; उसी प्रकार सभी भव्य पुरुषों को भी उचित है कि वे भी अपने से जिस तरह बन पड़े, जिनधर्म की प्रभावना करें।

कालान्तर में अकलङ्कदेव ने वैराग्य प्राप्त कर आत्म-हितकारी भगवती जिनदीक्षा अङ्गीकार कर स्वयं का आत्महित तो किया ही; वीतरागी जिनशासन की भरपूर प्रभावना भी की। मुनिदशा प्राप्त अकलङ्कदेव ने जैन न्याय ग्रन्थों की रचना करके माँ भारती के कोष को समृद्ध किया। वे वीतरागी सन्त अकलङ्कदेव यह सब कार्य करते हुए भी प्रतिक्षण अपने शुद्धात्मा में उपयोग को डुबोकर सिद्ध भगवन्तों से बातें करते थे, प्रति क्षण सिद्धदशा के समीप होते जा रहे थे।

अन्त में आत्मसमाधिपूर्वक देह का परित्याग करके अकलङ्कदेव ने देवपर्याय प्राप्त की और कालान्तर में मुक्ति प्राप्त करेंगे।

(-आराधना कथाकोष के आधार पर)

तीर्थधाम मङ्गलायतन
ग्रन्थमाला के सम्माननीय सदस्य

परम संरक्षक –

(1) पण्डित श्री कैलाशचन्द्र पवनकुमार जैन, अलीगढ़; (2) श्रीमती सुशीलादेवी, धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन, दिल्ली; (3) श्रीमती ममता जैन, धर्मपत्नी श्री मुकेश जैन परिवार, अलीगढ़; (4) श्रीमती ताराबेन दाह्यालाल शाह, मुम्बई हस्ते श्री हसमुखभाई शाह, मुम्बई; (5) श्री गिरीश–प्रवीण शाह, यू.एस.ए.; (6) श्री गुणवन्त जे. हिमानी, मुम्बई; (7) श्रीमती कमलादेवी धर्मपत्नी श्री नेमीचन्द पाण्डया, कोलकाता; (8) श्री महेशचन्द्र परिवार, कन्नौज; (9) श्रीमती सरलादेवी जैन मातूश्री आलोककुमार जैन, परिवार, कानपुर; (10)श्री पी. के. जैन, परिवार, रुड़की; (11) श्री चम्पालाल भण्डारी, बंगलौर; (12) श्री महाचन्द जैन चन्दकला जैन सिंघई, भीलवाड़ा; (13) श्रीमती शीतल बी. शाह, लन्दन; (14) श्रीमती बीना जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार जैन, देहरादून; (15) श्री प्रेमचन्द बजाज, कोटा; (16) श्री ऋषभ सुपुत्र श्री जैन बहादुर जैन, स्नेहलता, कानपुर; (17) श्रीमती पुष्पलता जैन धर्मपत्नी श्री अजितकुमार जैन, छिन्दबाड़ा; (18) श्री रमणलाल नेमीचन्द शाह, मुम्बई; (19) श्रीमती अमिता धर्मपत्नी श्री भानेन्द्रकुमार बगड़ा, नैरोबी; (20) श्री गंभीरमल प्रकाशचन्द्र जैन, अहमदाबाद; (21) श्री बाबूलाल राजेशकुमार मनोजकुमार पाटौदी, गोहाटी (दिल्ली); (22) जैन सेन्टर ऑफ ग्रेटर फिनिक्स, ऐरिजोना; (23) श्रीमती त्रिशलादेवी वीरेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (24) श्रीमती कोकिलाबेन शाह c/o श्री प्रवीन शाह कल्पना शाह, अमेरिका; (25) श्रीमती रंभाबेन पोपटलाल बोरा चैरिटेबिल ट्रस्ट, मुम्बई।

संरक्षक –

(1) अहिंसा चेरिटेबिल ट्रस्ट, जयपुर हस्ते दिलीपभाई; (2) श्री प्रकाशचन्द्र जैन छाबड़ा, सूरत; (3) डॉ० सनतकुमार जैन परिवार, सिहोर; (4) श्री कपूरचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (5) श्री कैलाशचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (6) श्रीमती त्रिशलादेवी जैन, सूरत; (7) ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट, बाँसबाड़ा; (8) श्रीमती मीना जैन धर्मपत्नी श्री केशवदेव जैन, कानपुर; (9) श्री निहालचन्द जैन, धेवरचन्द जैन, जयपुर; (10) श्रीमती कमलप्रभा जैन मातुश्री श्री अशोक बड़जात्या, इन्दौर।

परम सहायक –

(1) पण्डित कैलाशचन्द जैन, परिवार, अलीगढ़; (2) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, ठाकुरगंज; (3) श्री अशोककुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (4) श्री बोसकुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (5) श्री राजीकुमार जैन, चिलकाना; (6) श्री संजयकुमार जैन, चिलकाना; (7) श्री बलीशकुमार जैन, परिवार, गाजियाबाद; (8) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, भीलवाड़ा; (9) श्री दिगम्बर जैन कुन्द कुन्द कहान स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा; (10) श्री प्रशान्तभाई दोशी, पुणे; (11) श्री राजेन्द्रभान बारौलिया, आगरा; (12) श्री शान्तिलाल कुसुमलता पाटनी, छिन्दबाड़ा; (13) श्री रविन्द्रकुमार जैन स्नेहलता जैन, नवी मुम्बई; (14) श्री कपूरचन्द

अक्षयकुमार बत्सल, खनियांधाना; (15) श्री एम.पी. जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, विवेक विहार, दिल्ली; (16) श्री जीवराज, कैलाश, प्रकाश संचेती, अजमेर; (17) श्रीमती इन्दिराबेन नवीनभाई शाह जोबालिया, मुम्बई; (18) श्री प्रकाशचन्द जैन, सूरत।

सहायक

(1) श्रीमती कान्तीदेवी जैन, धर्मपत्नी श्री मोतीचन्द्र जैन (शहरी), चिलकाना; (2) श्रीमती सीमा सेठी धर्मपत्नी श्री दिलीप सेठी, झालावाड़; (3) श्री शीलचन्द्र जैन 'सर्राफ', परिवार, बीना; (4) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, आगरा; (5) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, करेली; (6) श्री उमेशचन्द संजीवकुमार, भोपाल; (7) श्री कन्नूभाई दोशी, परिवार, मुम्बई; (8) श्री खुशालचन्द्र राकेशकुमार सर्राफ, खिमलसा; (9) श्री धनकुमार सुनीलकुमार जैन, सूरत; (10) श्री वीरेश चिरंजीलाल कासलीवाल परिवार, सूरत; (11) श्रीमती स्व० शोभाबेन, धर्मपत्नी स्व० मोतीलाल कीकावत, लूणदा; (12) श्रीमती प्रकाशवती धर्मपत्नी गंभीरचन्द्रजी वैद्य, अलीगंज हस्ते डॉ० योगेश जैन; (13) श्री महेशचन्द जैन, आगरा; (14) श्रीमती रविकान्ता जैन, राधोगढ़; (15) श्री कीर्तिञ्जय अण्णासा गोरे, हिंगोली (फालेगाँव); (16) वन्दना प्रकाशन, अलवर; (17) श्री राजकुमार जैन, रश्मि जैन, उज्जैन; (18) श्री अजित 'अचल' ग्वालियर; (19) श्री कोटडिया चम्पकलाल नाथालाल शाह, अहमदाबाद; (20) श्री सी.एस. जैन, देहरादून; (21) श्री सागरमल माधवलाल सेठी, बुरहानपुर (एम.पी.); (22) श्रीमती शकुन्तलादेवी धर्मपत्नी श्री जवाहरलाल जैन, जयपुर; (23) श्री मनु जैन सुपुत्र श्री अरिदमन जैन, मेरठ; (24) श्री अजितकुमार जैन, एड. सीकर; (25) श्री वीरेन्द्रकुमार पारसकुमार, मनोजकुमार हरसौरा, कोटा; (26) डॉ. रांका जैन, प्रिसिंपल, देहरादून; (27) श्रीमती वर्षा बेन पीयूष शाह, ऐरिजोना अमेरिका; (28) श्री विजय किकावत, बसंत विहार, नई दिल्ली; (29) पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, मुम्बई; (30) श्री अजय जैन (सी.ए.), कोटा; (31) श्री चान्दमल हेमन्तकुमार वेद, भीलवाड़ा; (32) श्री सुशीलकुमार जैन समकित पहाड़िया, किशनगढ़; (33) श्री समय गाँधी सुपुत्र श्री रणजीत भाऊ साहेब गाँधी, सोलापुर; (34) श्री कमल बोहरा, कोटा; (35) श्री अनूपकुमार जैन, आगरा; (36) श्रीमती नेहल धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार कोठारी, दाहोद; (37) श्रीमती नीलमबेन रमणीकभाई घड़ियाली, मोरबी; (38) स्व. श्री चान्दमल लुहाड़िया परिवार, बिजौलिया; (39) श्री महावीर प्रसाद जैन, आगरा; (40) श्री सुभाषचन्द गोयल, आगरा; (41) श्री वंशीधर जैन, आगरा; (42) श्रीमती सत्या जैन धर्मपत्नी श्री महेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (43) श्रीमती प्रकाशदेवी सेठी, गोहाटी; (44) श्री धनकुमार जैन, पार्ले पाइन्ट, सूरत; (45) श्री महावीर कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, दुर्ग।

भारत में उत्तरप्रदेश प्रान्त की हृदयस्थली अलीगढ़ में निर्मित २१वीं शती का विशुद्ध जिनायतन सङ्कुल एवं समाजसेवा का उत्कृष्ट संस्थान

तीर्थधाम मङ्गलायतन

प्रमुख दर्शनीय स्थल

1. कृत्रिम कैलाशपर्वत पर भगवान आदिनाथ मन्दिर एवं चौबीस तीर्थङ्करों की निर्वाणस्थलियाँ - कैलाशपर्वत, सम्मेदशिखर, गिरनारगिर, चम्पापुरी, पावापुरी एवं सोनागिरी व स्वर्णपुरी सोनगढ़ की विधिपूर्वक स्थापनाओं के दर्शन
2. भगवान महावीर मन्दिर
3. भगवान बाहुबली मन्दिर
4. पण्डित दौलतराम जिनवाणी मन्दिर एवं जिनवाणी संरक्षण केन्द्र
5. आचार्य समन्तभद्र आत्मचिन्तन केन्द्र
6. धन्य मुनिदशा (दिगम्बर मुनिराजों की दशा एवं चर्या)
7. आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप एवं शोध संस्थान
8. भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (हाथरस) उत्तरप्रदेश

email : pawanjain@mangalayatan.com; info@mangalayatan.com

website : www.mangalayatan.com

धन्य मुनिराज हमारे हैं

(खण्ड - ४)